श्रीकांत वर्मा

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ–रानी के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है । भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख ।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

श्रीकांत वर्मा

अरविन्द त्रिपाठी

साहित्य अकादेमी

अनुक्रम

परिचय

1

जो मुझसे नहीं हुआ

"मैं असल में अपने भीतर चौबीसों घण्टे तक लड़ाई लड़ता हूँ और इसमें कोई ज़ख़्मी नहीं होता, कोई मेरे हाथों मारा नहीं जाता, सिर्फ़ मैं लहूलुहान होता हूँ। कभी राजनीति कविता पर हमला करती है, कभी कविता राजनीति पर। मैं दोनों का द्वन्द्व युद्ध रोकने के प्रयत्न में स्थायी तौर पर ज़ख़्मी होकर रह गया हूँ—ज़ख़्मी, मगर अपंग नहीं।"

"मैं मध्यवर्ग, लेकिन सामन्ती संस्कारों वाले परिवार में पैदा हुआ, इससे मेरी मानसिक बनावट उसी ढंग से हुई—आज भी मेरे मन में वैसे ही भय, आशंकाएँ इत्यादि हैं, जो एक तरह से सामन्ती परिवार में होती हैं। मेरे पिताजी वकील थे—उससे पहले मेरे दादा वकील थे, उनकी अच्छी-ख़ासी ज़मीन-जायदाद थी, नौकर-चाकर थे, आराम और सुविधाप्रियता का वातावरण था। आज भी, इतने संघर्षों के बाद भी, मुझमें उसी तरह की सुविधाप्रियता है जो कि एक सामन्ती संस्कारों मे जन्म लेने वाले व्यक्ति में होती है। दूसरे, मैं अपने घर में सबसे बड़ा लड़का था, बहुत ज़्यादा लाड़-प्यार मिला, बहुत महत्त्व मिला। मेरे ख़याल में इसने भी ऐसी भावना पैदा की कि मैं एक विशिष्ट व्यक्ति बनूँ, दूसरों का ध्यान मुझ पर केन्द्रित होना चाहिए, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में मुझे होना चाहिए जिस पर सबकी निगाहें रहें। अगर मैं बड़ा लड़का न होता तो शायद यह बात न होती।"

श्रीकांत वर्मा जैसे कवि के जीवन का वृत्तांत जानने के सिलसिले में उन्हीं की एक बहुचर्चित काव्य-पंक्ति "जो मुझसे नहीं हुआ, वह मेरा संसार नहीं" बड़े काम की लगती है। यानी जो मेरे जीवन में सम्भव हो सका वही मेरा संसार है, जो नहीं प्राप्त हो सका उसका ग़म क्या। कहना न होगा, स्वयं श्रीकांत जी को भी यह काव्य-पंक्ति बेहद पसंद थी।

इस पंक्ति के आलोक में श्रीकांत के जीवन का विश्लेषण किया जाय तो कई सनसनीखेज नतीज़े निकलते हैं। एक तो यह कि इतना बहुविध जीवन किसी अन्य

आधुनिक भारतीय लेखक ने नहीं जिया, जिसमें शुरू से आख़िर तक गहरे उतार-चढ़ाव की प्रक्रिया ज़ारी रहती है। दूसरा यह कि वे पहले आधुनिक लेखक थे जो आजीवन विवादास्पद बने रहे। कभी साहित्य के मोर्चे पर तो कभी साहित्यकार होने के साथ-साथ अपने सक्रिय राजनीतिक जीवन की भूमिकाओं के नाते। उनके जीवन में एक ऐसा भी मोड़ आया जब उन्हें साहित्य का 'आउट साइडर' मान लिया गया। लेकिन श्रीकांत के बहुमुखी व्यक्तित्व की खूबी यह रही कि वे हर-बार विपरीत स्थितियों में भी अपना रास्ता निकाल लेते थे।

उनके जीवन की क्रूर विडम्बनाओं का साक्ष्य उनकी डायरी के आख़िरी पन्ने में मिलती है जिसे उन्होंने 11 मार्च 1986 को न्यूयॉर्क के कैंसर अस्पताल में, ऑपरेशन थियेटर में जाने के पूर्व लिखा था, "क्या कहूँ! कितना अभागा हूँ मैं! बचपन से रोगग्रस्त रहा। अभी ज़वान भी नहीं हुआ था कि पिता निकम्मे हो गये। कोई काम नहीं। कोई आय नहीं। जिस उम्र में लोग सपने देखते हैं, मैंने स्कूल मास्टरी की; माँ-बाप, भाई-बहनों को पाला और अपनी शिक्षा पूरी की। दिल्ली आया तो एक के बाद एक मुसीबतों का सिलसिला चल निकला। कोई अंत नहीं। पराजय, विफलता, पीड़ा, अपमान, रोग, धोखा सब मुझसे चिपकते गये। कभी निराला की पंक्ति की याद आती है—"क्या कहूँ आज जो कही नहीं दुःख ही जीवन की कथा रही" तो कभी मुक्तिबोध की—"पिस गया वह भीतरी और बाहरी, दो कठिन पाटों के बीच, ऐसी ज़िन्दगी है नीच।"

नहीं जानता यह डायरी जारी रहेगी या यह इसका अन्तिम पन्ना होगा, मगर इतना अवश्य कहूँगा, मैं जीना चाहता हूँ।"

देखा जाय तो जीने की यह लालसा और जीवन में कुछ कर गुज़रने की यह तमन्ना उनके भीतर बचपन से लेकर मृत्यु तक वर्तमान है। यह गहन जिजीविषा उन्हें एक छोटे क़द का कुतुंब आदमी बनाती है। पर इस कुतुब आदमी की ज़िन्दगी इतनी आसान नहीं है। इसके साहित्य की तरह इसका जीवन भी कम दिलचस्प नहीं।

श्रीकांत वर्मा का जन्म 18 सितम्बर 1931 को छत्तीसगढ़ अंचल में पहाड़ी इलाके की वीरान सूखी धरती के एक उदास कोने बिलासपुर जैसे कस्बाई बोध जैसे शहर में हुआ। कहना चाहिए श्रीकांत के व्यक्तित्व और लेखन में यह कस्बाई बोध हमेशा चढ़ाव-उतार के साथ मौजूद रहा है। यद्यपि उनके जीवन और लेखन में आधुनिकता को लेकर गहरी आसक्ति थी। नयी कविता के ज़माने में उन्हें आधुनिकता का सबसे उदग्र भाष्यकार माना जाता था, जो मानते थे कि आख़िर आधुनिकता का विकल्प क्या है? पर सच्चाई यह है कि उनके जीवन और लेखन में आधुनिकता के विकल्प के रूप में हमेशा एक कस्बाई देशजता भी मौजूद थी। निर्मल वर्मा का यह कहना सटीक जान पड़ता है कि "श्रीकांत के व्यक्तित्व में एक

गहरी कस्बाई संवेदना थी। यद्यपि वे जीवन भर इस कस्बाई संवेदना को तोड़ने की कोशिश में परेशान रहे। पर सच्चाई यह है कि इस कस्बाई संवेदना से वे अपने को अलग नहीं कर सके।"[1]

एक सम्पन्न परिवार में पैदा होने के बावजूद श्रीकांत को किशोर होते-होते कठिन दिन देखने पड़े। चार भाइयों और दो बहनों के बीच श्रीकांत बड़े होने के नाते दायित्व बोध और ज़िम्मेदारियों के बोझ से आजीवन दबे रहे। उन्हें परिवार की चरमराती आर्थिक स्थिति को देखकर अधूरी पढ़ाई छोड़कर बिलासपुर में स्कूल मास्टरी करनी पड़ी। वह भी नौकरी पक्की न थी। जब बिलासपुर में कोई और ठौर नहीं मिला तो फिर दिल्ली का रास्ता पकड़ा।

श्रीकांत वर्मा अपने पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में लिखते हैं–"अपेक्षाकृत मेरा जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ। पिता पेशे से वकील हैं, पर जीवन का समर्पण राजनीति धर्म रहा। उनकी लड़ाई स्वाधीनता आन्दोलन के साथ एक लम्बे समय तक ज़ारी रही जब तक कि स्वतंत्रता हासिल नहीं हो गयी। इसलिए जीविका के मामले में वे हमेशा अस्थिर रहे। ज़मींदारी प्रथा की समाप्ति बाद वकीलों को भी कठिन दिन देखने पड़े।"[2] उनके पिता राजकिशोर वर्मा स्वाधीनता आन्दोलन में गाँधी जी के आह्वान पर जेल गये। श्रीकांत के बचपन की यह एक अजीब त्रासदी है कि उन्हें माँ का प्यार नहीं मिला। माँ की बजाय दादी से उन्हें गहरा प्यार मिला। दादी के धार्मिक स्वभाव का उन पर गहरा असर रहा। जब श्रीकांत की उम्र चौदह साल थी तब उनकी दादी का अवसान हुआ। श्रीकांत के शब्दों में 'माँ का प्यार न पाना एक ट्रैजेडी थी।'

श्रीकांत वर्मा के ताऊ नन्दकिशोर वर्मा बिलासपुर की एक मशहूर ज़मींदारी केन्दा के दीवान थे। केन्दा बिलासपुर से थोड़ी दूर चारों तरफ़ से घने जंगलों से घिरा एक छोटा-सा गाँव है। श्रीकांत का बचपन वहीं बीता। ताऊ ने उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा के संस्कार दिये। केन्दा के घने जंगलों का परिवेश श्रीकांत के बालमन पर छाया रहा। शायद इसीलिए उनके लेखन में पहाड़, जंगल, झुंझकुर, तालाब, वनमुर्ग़ी, नदियों की स्मृतियाँ बराबर आती हैं। चूँकि बचपन में ताऊ और दादी से काफ़ी लाड़-प्यार मिला, इसलिए श्रीकांत वर्मा के व्यक्तित्व में एक ग़ज़ब की तुर्शी थी। वे किसी बात पर बहुत जल्दी नाराज़ और बहुत जल्दी ख़ुश हो जाने वाले व्यक्ति थे। बचपन की तुनुकमिज़ाजी, गहरी संवेदनशीलता, एक ख़ास तरह का अकेलापन जिससे रिसता हुआ अवसाद उनके व्यक्तित्व में भरा हुआ था। प्यार में 'बच्चू' नाम से पुकारे जाने वाले इस लड़के में बचपन से ही दूसरों से अलग और असाधारण

---

1. भारत भवन भोपाल में आयोजित श्रीकांत वर्मा प्रसंग के उद्घाटन भाषण से, जनवरी 1988
2. द्रष्टव्य परिशिष्ट : लेखक को लिखा गया पत्र, 18 अप्रैल 1979

बनने की इच्छा थी। घर के परिवेश में उर्दू ज़ुबान संस्कार में मिली थी। पर श्रीकांत हिन्दी और अंग्रेज़ी पढ़ना चाहते थे। लेकिन संस्कार में मिली उर्दू के परिवेश ने श्रीकांत की वाणी को एक ओर आभिजात्य और नफ़ासत दी तो दूसरी ओर उसे दो टूक बनाया। वे खुद कहते थे—"मैं उस घर में पैदा हुआ जिस घर में उर्दू ही उर्दू थी। मेरे दादा उर्दू सिर्फ़ पढ़ते-लिखते और बोलते भर नहीं थे बल्कि मुझे लगता है वे उर्दू को पीते भी थे। कह सकता हूँ कि मैंने होश ही उर्दू में सँभाला। मेरे पिता, जो पेशे से बैरिस्टर थे, धाराप्रवाह उर्दू बोलते और लिखते थे...मैं उर्दू से उतना ही प्रेम करता हूँ जितना हिन्दी से। मैं उन लोगों से घृणा करता हूँ जो उर्दू को सिर्फ़ एक मज़हब की भाषा मानते हैं। ऐसे लोग सिर्फ़ एक भाषा से घृणा नहीं करते बल्कि इस देश से भी बैर करते हैं। सच्चाई यह है कि उर्दू नहीं रहेगी तो यह देश भी नहीं रहेगा, यह ताजमहल भी नहीं रहेगा। क्या आप ताजमहल को खोना चाहेंगे?"[1]

देखा जाये तो उर्दू के इसी समृद्ध परिवेश के चलते श्रीकांत ने स्वयं साहित्यिक संस्कार भी अर्जित किये। क्योंकि उनके घर में उनके पूर्व साहित्य की कोई परम्परा न थी। जब उनकी उम्र दस-ग्यारह वर्ष की थी, उस दौरान उन्होंने एक घरेलू पुस्तकालय की स्थापना की जिसमें शरत्चन्द, प्रेमचन्द, देवकीनन्दन खत्री जैसे लेखक और *चाँद, हंस* और *सुधा* जैसी पत्रिकाएँ शामिल थीं।

जहाँ तक स्कूली शिक्षा का ताल्लुक है, श्रीकांत के मन में शुरू से ही दिलचस्पी का अभाव रहा। यद्यपि प्रारम्भिक शिक्षा के लिए बिलासपुर के अंग्रेजी स्कूल में उनका दाखिला हुआ। लेकिन उन्हें वहाँ का परिवेश रास नहीं आया। वहाँ से निकलकर नगर पालिका के स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। फिर बिलासपुर के म्युनिसिपल स्कूल में प्रवेश किया, जहाँ से उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1940 में आगे की शिक्षा के लिए इलाहाबाद भेजे गये जहाँ उन्होंने क्रिश्चियन कॉलेज में दाखिला लिया। लेकिन अपने घर से दूर टिक नहीं पाये। बिलासपुर लौटकर एम.वी.आर. कालेज से इण्टर और बी.ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। लेकिन घर की डावाँडोल स्थिति से आगे की उच्चशिक्षा छूट गयी। 1952-53 में बेकारी का आलम रहा। श्रीकांत कविताएँ लिखने लगे। इसी दौरान बिलासपुर से प्रकाशित साप्ताहिक *तूफ़ान* में पत्रकारिता आरम्भ की। अपने असुरक्षित भविष्य से परेशान रोज़ी-रोटी की तलाश में बम्बई गये। वहाँ फ़िल्मों में अपने को आज़माने की कोशिश की। पर सफलता हाथ नहीं लगी। वहाँ से निराश लौटे श्रीकांत ने बिलासपुर के म्युनिसिपल स्कूल में मास्टरी शुरू की। पर श्रीकांत की नियति में स्कूल मास्टरी न थी। यद्यपि स्कूल मास्टरी करते हुए उन्होंने एक प्राइवेट छात्र के रूप में नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. हिन्दी की उपाधि प्राप्त की। उनके जीवन में एक बड़ा योग

---

1. *मगध* (उर्दू) अनुवाद के लोकार्पण पर दिया गया वक्तव्य : दिल्ली, सितम्बर 1985

तब प्रकट हुआ जब 1953 में श्रीकांत की पहली भेंट कवि मुक्तिबोध से हुई। मुक्तिबोध से पहली भेंट ने श्रीकांत के किशोर मन की दिशा और दृष्टि बदल दी। मेरा ख़याल है कि श्रीकांत के जीवन में अगर मुक्तिबोध प्रवेश न करते तो श्रीकांत, श्रीकांत न होते। वे अधिक से अधिक एक कस्बाई बोध वाले, सुरक्षित जीवन जीने वाले स्कूल मास्टर और एक कस्बाई गीतकार होते।

स्वर्गीय मुक्तिबोध को स्मरण करते हुए श्रीकांत वर्मा ने कहा था, "हर व्यक्ति एक रहस्य है। वह स्वयं को समझ नहीं पाता। बहुत से लोग रास्ता दिखाते हैं। लेकिन कुछ लोगों को ही रास्ता दिखता है। मुझे ऐसे कठिन समय में स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध ने रास्ता दिखाया जिन्हें भुला पाना मेरे लिए कठिन है।"[1] "उनकी आकस्मिक और कारुणिक मौत की छाप इस कदर मेरे ऊपर आज भी मौजूद है कि मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह दूसरा मुक्तिबोध पैदा न करे। मुक्तिबोध जी आज नहीं हैं किन्तु मेरे ऊपर उनका बहुत सारा ऋण इकट्ठा है। मुझे अफ़सोस है कि मैं उसे पूरा-पूरा अभी तक चुका नहीं पाया... सोचता हूँ मुक्तिबोध पर एक किताब लिखूँ। आज आपको अपने दिल की एक ऐसी बात बताना चाहता हूँ जो अब तक किसी को नहीं बतायी। वह यह कि उनके न रहने पर मैं पहली बार बहुत एकाकी, निराश्रित हुआ। पहली बार जीवन में बहुत रोया। वैसे मेरे जीवन में रोने के क्षण बहुत कम हैं। ज़्यादातर क्षण तनाव, गुस्सा, पछतावा और नाराजगी के हैं जिसे आप मेरी कविताओं में पा सकते हैं। मुक्तिबोध का कारुणिक निधन मेरे जीवन की एक बड़ी दुर्घटना है। एक बड़ी निजी क्षति जिसकी भरपाई नहीं हो सकेगी। मेरे लिए मुक्तिबोध हमेशा अँधेरे में एक रोशनी हैं जिसकी लौ कभी बुझ नहीं सकती।"[2]

श्रीकांत मुक्तिबोध को अपना काव्यगुरु मानते थे। यद्यपि यह दिलचस्प बात है कि मुक्तिबोध प्रतिबद्ध मार्क्सवादी विचारों के पोषक थे तो श्रीकांत मार्क्सवाद से गहरे स्तर पर असहमत। लेकिन श्रीकांत और मुक्तिबोध में गहरी मैत्री आजीवन बनी रही। मुक्तिबोध के मन में श्रीकांत के लिए गहरा अनुराग था। मुक्तिबोध श्रीकांत को प्यार से 'बिलासपुर का लाडला' कहा करते थे। कहना न होगा बिलासपुर के इस लाडले के व्यक्तित्व के निर्माण में मुक्तिबोध का असाधारण योगदान था।

श्रीकांत की मुक्तिबोध से पहली भेंट 1953 के आख़िरी दिनों में नागपुर में हुई थी। तब श्रीकांत उन्हें अपनी कविताएँ दिखाने गये थे। उनके साथ थे—कवि-मित्र रामकृष्ण श्रीवास्तव जो मुक्तिबोध के प्रियपात्र थे। उस मुलाकात का शब्दचित्र श्रीकांत इस तरह देते हैं—"जैसे किसी अपील के लिए गये मुवक्किल के

---

1. श्रीकांत वर्मा प्रसंग : बिलासपुर, अप्रैल 1985 में दिये श्रीकांत वर्मा के वक्तव्य से
2. श्रीकांत वर्मा से साक्षात्कार : *वागर्थ*, मार्च-अप्रैल 1995, पृष्ठ 68-69

हाथ में उसके मुक़द्दमे के कागज़ात होते हैं वैसे ही मेरे कंधे पर पड़े झोले में मेरी कविताएँ थीं और दोपहर के वक़्त एक पेड़ के नीचे मैं मुक्तिबोध के दफ़्तर के (मुक्तिबोध उन दिनों मध्यप्रदेश सूचना विभाग में काम करते थे) करीब खड़ा था। थोड़ी देर बाद रामकृष्ण श्रीवास्तव एक लम्बे क़द के, तीखे नक़्शवाले सज्जन को साथ लेकर आये। हुलिये से मैंने समझ लिया, यही मुक्तिबोध हैं। उन्होंने भी पेड़ के नीचे एक कमसिन लड़के को खड़ा देखा और पहचान लिया 'आपकी कविताओं के बारे में रामकृष्ण जी ने बताया है।' उन्होंने मुझसे कहा और चाय के लिए एक छोटी-सी झोंपड़ीनुमा होटल में ले गये, जहाँ चाय पीने के लिए दिन में शायद कई बार आया करते थे। मुझे पहली ही निगाह में अनुभव हुआ, मुक्तिबोध उत्पीड़ित व्यक्ति हैं। और उनका चेहरा मार खाया हुआ है। मैं उनके पास साहित्य चर्चा की इच्छा लेकर गया था, मगर उस आधा घण्टे में उन्होंने साहित्य की कोई बात नहीं की, सारा समय मेरी नौकरी, पढ़ाई और माँ-बाप के बारे में पूछते रहे। मैंने पाया उनके नेत्र अस्थिर और सशंक हैं और इधर-उधर चारों ओर घूमते रहते हैं।"

श्रीकांत मुक्तिबोध को स्मरण करते हुए लिखते हैं—"मेरे मन पर मुक्तिबोध की आतंक भरी छाप है, यंत्रणामय स्मृतियाँ हैं। मुक्तिबोध को याद करते हुए तकलीफ़ होती है। मगर कोई दिन नहीं आता जब किसी-न-किसी बहाने उनका स्मरण नहीं होता। एक ओर अगर मृत्यु के किनारे पड़े मुक्तिबोध के कंकाल को अपने दिमाग़ से निकालना असम्भव है तो दूसरी ओर गलियों में चप्पलें फटकारते, किसी भी नुक्कड़ की दुकान पर खड़े होकर कड़वी गरम चाय से ज़िन्दगी के लिए 'रस खींचते' ग्रीक काय मुक्तिबोध का चित्र मिटा सकना मुश्किल है।"[1] इससे ज़ाहिर होता है श्रीकांत के मन में मुक्तिबोध के प्रति अगाध श्रद्धा थी। मुक्तिबोध से पहली मुलाकात जिस तरह अंतरंगता में बदल गयी उसके पीछे मुक्तिबोध के व्यक्तित्व से निकलने वाली एक काली आँच थी जो किसी भी युवा को प्रभावित करती थी। उस काली आँच का आकर्षण श्रीकांत के मन में ज़बरदस्त था। इसके प्रमाण में श्रीकांत और मुक्तिबोध के पत्र आमने-सामने रक्खे जा सकते हैं।

1955-56 में मुक्तिबोध की प्रेरणा से श्रीकांत वर्मा ने बिलासपुर से नवलेखन की एक विशिष्ट पत्रिका 'नयी दिशा' निकाली। इस पत्रिका के दो अंक ही निकल पाये। पर इन दो अंकों के प्रकाशन ने श्रीकांत के कवि व्यक्तित्व को एक नयी उष्मा दी, जिसका असर पूरे मध्यप्रदेश के नवलेखन पर पड़ा। लेकिन आर्थिक अभाव के चलते श्रीकांत इसका प्रकाशन ज़ारी नहीं रख सके। अनिश्चय भविष्य उनके सामने खड़ा था। इस सिलसिले में मुक्तिबोध ने श्रीकांत की बहुत मदद की। उन्होंने तब नागपुर आकाशवाणी में प्रोड्यूसर के पद पर कार्यरत नरेश मेहता से उनकी मुलाकात

---

1. ब्रह्म राक्षस का शिष्य, *ज्ञानोदय* : सितम्बर 1964, श्रीकांत वर्मा रचनावली खण्ड-3 पृष्ठ 59,60

कराई। नरेश मेहता श्रीकांत के कवि-व्यक्तित्व से पहले ही परिचित थे।

उसी दौरान नरेश मेहता ने एकाएक रेडियो की नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। और दिल्ली चले आये। यहाँ आकर नरेश मेहता ने भारतीय श्रमिक कांग्रेस के साप्ताहिक मुखपत्र 'भारतीय श्रमिक' का सम्पादन आरम्भ किया। नरेश मेहता के आमन्त्रण पर सितम्बर 1956 में श्रीकांत दिल्ली एक नये सिरे से ज़िन्दगी को शुरू करने आये और भारतीय श्रमिक पत्र में उप-सम्पादक नियुक्त हुए। जहाँ वे 1959 तक कार्यरत रहे फिर वह पत्र बन्द हो गया। उसके सभी कर्मचारी बेरोज़गार हो गये। श्रीकांत लिखते हैं, "नरेश जी प्रयाग चले गये। पर मैंने दिल्ली में ही जूझना पसन्द किया।" 1958 में नरेश मेहता और श्रीकांत वर्मा के सम्पादन में हिन्दी की एक विशिष्ट पत्रिका 'कृति' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। सन् '59 में नरेश मेहता के प्रयाग चले जाने के बाद भी श्रीक़ांत ने इसका सम्पादन ज़ारी रक्खा। उन दिनों कृति में बतौर सहायक सम्पादक कवयित्री कांता पित्ती कार्यरत रहीं। भीषण बेरोज़गारी के आलम में भी श्रीकांत ने इसका प्रकाशन 1962 तक ज़ारी रक्खा।

कहना चाहिए कृति का प्रकाशन साहित्य जगत् की एक घटना थी। इसके कुल 40 अंक प्रकाशित हुए। इन अंकों में नयी कविता आन्दोलन के अवसान की गूँज थी। श्रीकांत नयी कविता की रोमेण्टिकता का ज़ोर-शोर से विरोध कर रहे थे। उसकी जगह वे साठ के बाद की युवा कविता आन्दोलन के स्वर को मुखरित कर रहे थे। उनके साथ इस मोर्चे पर साथ खड़े थे—मुक्तिबोध और नामवर सिंह। विरोध में खड़े थे—अज्ञेय और उनके अनुयायियों की लम्बी फौज़। कृति के बहाने श्रीकांत का यह साहित्यिक संघर्ष साहित्य के इतिहास का एक दिलचस्प अध्याय है, जिसकी आज खोजबीन ज़रूरी है।

1956 श्रीकांत वर्मा की ज़िन्दगी का एक निर्णायक वर्ष रहा है। वे बिलासपुर जैसे कस्बेनुमा शहर से निकलकर महासागर दिल्ली में प्रवेश करते हैं और स्वयं को विसर्जित कर इस महासागर में बेहिसाब गोते लगाते हैं। छोटी-मोटी नौकरी करते हैं। वह जब छूटती है तो नरेश मेहता की तरह बिलासपुर नहीं भागते बल्कि यहीं संघर्ष करते हैं। एक दो वर्ष नहीं पूरे आठ साल तक बेरोज़गार, असुरक्षित जीवन जीते हुए अपने लेखन की शर्त पर ज़िन्दा रहते हैं। नरेश मेहता के प्रयाग लौटने के बाद कृति का प्रकाशन भयानक बेरोज़गारी में ज़ारी रखते हैं। पर 'कृति' के बन्द हो जाने के बाद श्रीकांत पूरी तौर पर बेरोज़गार जीवन जीते हैं। उन दिनों वे कविताएँ लगातार लिख रहे थे। पर कविताओं से जीवन जीना कितना कठिन और दुर्वह है, यह बड़ा से बड़ा भारतीय कवि जानता है। उन दिनों श्रीकांत स्वतंत्र पत्रकारिता, अनुवाद आदि के जरिये किसी तरह दिल्ली में जी रहे थे। शायद उनकी ज़िन्दगी के यें सबसे कठिन दिन थे। अपने उन कठिन दिनों को याद करते हुए वे कहते

हैं "मैं अपने घर को छोड़कर निकल पड़ा था। क्योंकि मेरे भीतर लिखने की तीव्र बेचैनी पैदा हो गयी थी। पिकासो और हेमिंग्वे की तरह दिल्ली मेरे लिए पेरिस की तरह एक स्वप्नलोक थी। किन्तु यहाँ आकर जीना बहुत कठिन था। मेरे पास जीविका नहीं थी और जो कविता प्रकाशित होती थी, उससे बहुत कम पैसे मिलते थे। इसलिए जीना और भी कठिन था। मित्रों ने सहायता की, लेकिन दिल्ली में ऐसे कई दिन मैंने गुज़ारे जो भूख, पीड़ा और सन्ताप से ग्रस्त थे। यह सन् साठ के दौर की बात है।"[1]

इस तरह कई साल फुटकर लेखन पर ज़िन्दगी खींचते हुए श्रीकांत आगे बढ़ते हैं। उस दौर में उनके पास खोने के लिए कुछ भी नही था पर पाने के लिए सब कुछ था। पाने की इसी आस में वे दिल्ली में जूझते हैं। वे लिखते हैं "कई साल फुटकर लेखन के बल पर जिन्दा रहने के बाद 1964 में मुझे 'दिनमान' में जगह मिली। उपसम्पादक, मुख्य उपसम्पादक, विशेष संवाददाता के पदों पर काम किया। पर 1977 में सरकार बदलने के बाद मुझे नौकरी से हटा दिया गया।"[2]

जीविका के लिहाज़ से देखा जाय तो 1956 से लेकर 1963 तक का समय श्रीकांत का अन्धकार काल है। आठ साल तक लगातार बेरोज़गार, विपन्न, फटेहाल, बीमार, कमज़ोर, क्षीण और परेशान। यह संघर्षकाल से जूझते श्रीकांत का चेहरा है। अपने समय, समाज और जीवन से लड़ता हुआ—एक अथक चेहरा।

इस अथक चेहरे को दिल्ली में आश्रय देती हैं—बिलासपुर रायपुर सम्भाग की संसद-सदस्या श्रीमती मिनी माता। श्रीकांत के कठिन जीवन में मिनी माता की उपस्थिति कई कारणों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपने क्षेत्र की होने के कारण श्रीकांत से उनका परिचय हुआ। बाद के दिनों में यह परिचय बहुत पारिवारिक एवं आत्मीय हो उठा। मिनी माता दलित परिवार की एक बाल विधवा स्त्री थीं, जिन्हें कोई सन्तान नहीं थी। श्रीकांत को वे पुत्रवत् मानती थीं। श्रीकांत के पास रहने की ठौर नहीं थी। दिल्ली के उस संघर्ष काल में मिनी माता के स्नेह की बदौलत श्रीकांत क़रीब ग्यारह साल तक उनके साथ नार्थ एवेन्यू के फ्लैट की बरसाती में रहे। नार्थ एवेन्यू की वह बरसाती श्रीकांत की वह संघर्षमयी सृजनस्थली है, जहाँ उन्होंने *मायादर्पण* संग्रह की श्रेष्ठ कविताएँ *घरधाम*, बुखार में कविता, समाधिलेख, दिनचर्या, दिनारंभ, मायादर्पण लिखी, *कृति* का सम्पादन किया। उस दौर में वहीं से उन्होंने जड़ प्रगतिवादियों और प्रगतिवाद विरोधियों, कलावादी परिमलियों से दिलचस्प वैचारिक भिड़ंत की। यही वह जगह है जहाँ श्रीकांत ने एक नाराज़ नवयुवक की मुद्रा अख़्तियार की और हिन्दी काव्य संसार में पहले नाराज़ कवि के रूप में अभिहित

1. *इलेस्ट्रेटेड वीकली*, 27 मई 1984, श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृष्ठ 346
2. वही, परिशिष्ट पत्र

हुए। *जिरह* के अधिकांश वैचारिक और आलोचनात्मक निबन्ध यहीं लिखे गये। श्रीकांत की अधिकांश प्रेम कहानियाँ यहीं बुनी गयीं। कहना न होगा, श्रीकांत के संघर्ष काल ही उनके साहित्यिक जीवन के सबसे उत्तेजक और उर्वर काल हैं। इस उर्वर और संघर्ष काल के पार्श्व में खड़ी हैं—मिनी माता, जिन्हें मुक्तिबोध की तरह श्रीकांत के लिए भूलना हमेशा असम्भव रहा।

श्रीकांत जब सन् 56 में आये थे तो उनकी उम्र 24-25 के आस-पास थी। सन् 1967 में मिनी माता की अगुआई में श्रीकांत ने बहुत पकी उम्र में वीणा (जयपुर) से विवाह किया। श्रीकांत छत्तीस की उम्र में पहुँचने के बावजूद विवाह से कतराते थे। इसके पीछे कारण उनके प्रेम की विफलता भी हो सकती है—इसका थोड़ा-सा जायज़ा *हम हशमत* (कृष्णा सोबती) ने लिया है। श्रीकांत के 'वे दिन' की याद को ताज़ा करते हुए हशमत लिखती हैं "श्रीकांत पर उन दिनों अन्दर के शोर का-सा सन्नाटा छाया रहता। चेहरा कभी खुश, कभी अवाक् लगता, जैसे कोई बाहर की दुनिया से बेख़बर किसी टीले पर चढ़ने की जल्दी में है। अंतरंगता का झिलमिलाता एक अपना ही ग्राफ़। ऊपर नीचे सिमटता। फैलता। वह अक्सर सफ़ेद में दिखती। बाल ढीले। कुछ चिकने। चेहरे पर कसाव। मुस्कान अनोखी। श्रीकांत अपने कपड़ों के ढंग-बर्ताव में ताज़े-ताज़े देहलवीपने की झलक देते।" इस पैरे में आगे, उन दिनों श्रीकांत के साथ कृति में बतौर सहायक सम्पादक के रूप में कार्य कर चुकी कांता पित्ती की एक विफल प्रेम कविता का हवाला दर्ज किया है—

पूरा होने के बाद
अधूरा और बढ़ गया
आ : यह समय को थाम
आज
सचमुच सूना है आकाश
सहेज सकी नहीं सुख, सुख गन्ध और माँगती रही
अब दे गया है दर्द
मेरा वही अतिरेक
हँस सकने की सीमा तक।

—कांता

हशमत की आगे की टिप्पणी में श्रीकांत के टूटे दिल की मनोदशा देखिए : "कहाँ गया वह वक़्त! क्यों छिटका, क्यों उजड़ा—क्यों पीठ दी—हमें कुछ मालूम नहीं। एक शाम निरुला के सामने वाले कार्नर पर सफ़ेद लिबास में वह ऐसे मुड़ी जैसे नियति का फ़ैसला हो। क़दमों पर दबाव दे सड़क पार की और श्रीकांत सिर्फ़

तकते रहे। तकते रह गये। हम ओडियन में शो के बाद लाबोहैम की ओर चले आये थे। देखा, श्रीकांत खड़े हैं और वह कार में जा बैठी है। कार वह जा और वह जा।

श्रीकांत के चेहरे पर बौखलाहट, झुँझलाहट। अपने होने के नितान्त अकेले क्षण में वह गोल खम्बे से सटे पहले से छोटे लग रहे थे। क्योंकि खम्बा ऊँचा है।"[1]

हशमत का मानना है कि "श्रीकांत उन दिनों उगते हुए सींगों की खाज की तरह दूसरों को रगड़ते थे। उनका चोट खाया अहम् जिस-तिस के प्रति आक्रोश और दम्भ की स्थिति पैदा कर लेता। गर्मागर्म बहस और उत्तेजना ज़्यादा करके आक्रामक लहज़ा होता पुरानी पीढ़ी के ख़िलाफ़...इसके बाद हम साहित्यिक गोष्ठियों में और अदबी जमघटों में श्रीकांत को देखते-सुनते रहे। वह किसी उधड़ी फटी झुँझलाहट में से बाहर निकल आने की कोशिश में थे। कुछ भी कह सकने की हड़बड़ाहट और उतावली एक साथ। सवाल पर सवाल दागे चले जा रहे हैं। दलीलों और तल्ख़ी से अगले को काटते चले जा रहे हैं। इस बौद्धिक से-हल्लों में कभी खुद पस्त होते, कभी दूसरे। हम चाहते कान में फूँककर कहें अपने से बाहर निकल आओ बबुआ। अपने को आज़ाद करो इस सीलन से। इस मौसम को इतना लम्बा चलाया नहीं जा सकता। दुनिया बहुत बड़ी है। कोई एक तस्वीर अड़ी है आँखों के सामने भूल जाओ। परे करो।"[2]

उसके बाद श्रीकांत सचमुच अपने से बाहर निकलते हैं। श्रीकांत के मन की खिड़की दुबारा खुलती है। पत्नी वीणा वर्मा ने जैसे उनकी दुनिया ही बदल दी। वीणा के व्यक्तित्व में एक भारतीय स्त्री का काव्यमय चेहरा कौंधता है जिन्होंने श्रीकांत के भीतर के शोर को जैसे सहसा थाम लिया हो। श्रीकांत के जीवन में सुख की गहरी लम्बी नींद हरी हो गयी। जब वीणा जी विवाहित होकर श्रीकांत की उसी बरसाती में पहली बार दिल्ली उतरीं। हशमत अपनी सजग आँख से श्रीकांत के भीतर के बदलाव को आँकती हैं। यह छवि देखने लायक़ है—"दिल की खिड़की दुबारा खुली। बस खुल गयी। उस खिड़की से झाँका मुख वीणा का। दुबली-पतली सुहावनी-सी लड़की। वोल्गा के मद्धम आलोक में हम दोनों से मिल रहे थे पहली बार : सुनहरी पाट की साड़ी सहेजी-सी दुल्हन को देख हम खुश हुए। किसी अनोखी-सी झंकार में गुँथा उसका ताज़ा मुखड़ा चमत्कार की तरह श्रीकांत के गदबदे चेहरे पर छाया हुआ था। हाँ-न के अलावा वह चुप ही थी। वह धूप थी, सुहाती अबोली। श्रीकांत के हिस्से की धूप। पुराने गर्दो-गुबार से दूर। श्रीकांत खुश थे। खुशी कुछ ऐसी जो देखने से परे हो। ओझल हो एक-दूसरे में।"[3]

---

1. श्रीकांत वर्मा की दिल्ली : *पूर्वग्रह*—जनवरी, जून 88, पृष्ठ 39
2. वही, पृष्ठ 40
3. वही, पृष्ठ 40

1972 में श्रीकांत को एक आघात तब लगा जब मिनी माता विदेश से दिल्ली लौटते वक़्त विमान दुर्घटना में कारुणिक मौत की शिकार हुईं। मातृस्नेह से वंचित श्रीकांत के जीवन में यह दूसरा वास्तविक मातृघात था। इस दुर्घटना ने श्रीकांत के संवदेनशील मन को किस क़दर आहत किया, इसका पता उनकी डायरी के पन्नों में मिलता है—"मिनी माता का अन्तिम संस्कार आज दिल्ली में विद्युत् शवदाह गृह में कर दिया गया। मेरे जीवन का एक अध्याय, शायद सबसे कीमती अध्याय समाप्त हुआ। कितनी यादें मिनी माता से जुड़ी हुई हैं। 1956 में दिल्ली आया था। मिनी माता ने न केवल रहने को जगह दी बल्कि एक ऐसी शक्ति दी जिससे कि मैं इस कठिन नगर में, कठिन समय में भी बना रह सका। 1958 में भारतीय श्रमिक बन्द हो गया और मैं बेरोज़गार हो गया। पॉच साल तक बेकार रहा। इस तरह की मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक विपत्तियाँ आयीं। मिनी माता की मदद के बिना इनमें से एक का भी सामना सम्भव नहीं था। कहना चाहिए कि मिनी माता ने मुझे पुनर्जीवन दिया। मैं नष्ट हो चुका था। मुझे जरख से मनुष्य बनाया।

मिनी माता की मृत्यु नहीं हुई है। मैं ही मर गया हूँ।

कितने इन्सानों से मुलाक़ात हुई। कुछ हैवान साबित हुए, कुछ दगाबाज़। मिनी माता अकेली थीं, जिन्होंने ठीक-ठाक समझा, मेरी कद्र की। मुझे हर बार मौत से बचाया। जो मुझे मृत्यु से छुड़ाकर लाया, आज मैं उसी का दाह करके लौटा हूँ ...मेरा मन कमज़ोर हो गया है। मिनी माता की मृत्यु मुझपर फालिज की तरह गिरी है।"[1]

श्रीकांत वर्मा के जीवन की चरित-कथा का एक दूसरा पहलू उनका राजनीतिक जीवन है। जिसको जाने-समझे बिना श्रीकांत को जानना अधूरा सच होगा। यह दिलचस्प बात है कि जिस व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा एक दौर में सिर्फ़ साहित्य तक सीमित थी, अपने दूसरे दौर में वह सक्रिय राजनीतिक की तरफ़ लौटता है। इस तथ्य की पड़ताल करना श्रीकांत के पाठकों के लिए उतना ही ज़रूरी है, जितना उनके कवि-व्यक्तित्व को जानना। हालाँकि श्रीकांत की राजनीति में दिलचस्पी विद्यार्थी जीवन से थी। उनके पिता स्वाधीनता संग्राम सेनानी थे। इसलिए राजनीतिक पृष्ठभूमि उनके भीतर थी। अपने युवा काल में श्रीकांत मार्क्सवाद से प्रभावित थे। लेकिन 1956 में हंगरी की घटनाओं के कारण मार्क्सवाद से उनका मोहभंग हो गया। पर वे मार्क्स के कट्टर विरोधी कभी नहीं रहे। वे बराबर मार्क्सवाद से असहमत रहे। हिन्दी के कुछ मार्क्सवादी लेखकों ने कांग्रेस की सक्रिय राजनीति में जाने के बाद उन्हें मार्क्सवाद का कट्टर विरोधी समझ लिया। पर वास्तविकता यह है कि मार्क्सवादी लेखन से झगड़ने और बहस करने वाले वे हिन्दी के कुछ प्रमुख लेखकों में एक थे।

---

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली खण्ड-2, पृष्ठ 356-57

मार्क्सवाद से मोहभंग के बाद श्रीकांत वर्मा डॉ. राम मनोहर लोहिया के सम्पर्क में आये, जिनके व्यक्तित्व से वे गहरे स्तर पर प्रभावित हुए। श्रीकांत अपनी राजनीतिक पृष्ठभूमि के बारे में खुद स्वीकारते हैं "राजनीति में मेरी रुचि तो कॉलेज-स्कूल के दिनों से थी। लेकिन सक्रिय दिलचस्पी 1969 में कांग्रेस-विभाजन के समय हुई। उसके पहले डॉ. राम मनोहर लोहिया से मेरी पहली भेंट 1963 में हुई थी। मैं उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ था। और उनका भी मेरे प्रति अनुराग था। सन् 1967 में डॉ. लोहिया की मृत्यु के बाद समाजवादी आन्दोलन बिखरने लगा, और अन्य बुद्धिजीवियों की तरह मैं भी समाजवादियों से दूर जा पड़ा। वैसे मैं समाजवादी पार्टी का विधिवत् सदस्य न था, न कांग्रेस का। 1969 में श्रीमती गाँधी ने कई ऐसे क़दम उठाये जिन्हें अब भी मैं बहुत जनवादी मानता हूँ। मैं इससे आकर्षित होकर श्रीमती गाँधी के निकट आया। 1976 में मुझे राज्य सभा के लिए चुना गया। इससे पहले 1971 में मेरा नाम लोक सभा चुनाव के लिए प्रस्तावित हुआ था। मगर मैं उन दिनों अमेरिका में था।"[1]

इस वक्तव्य को गौर से देखें तो पता चलता है कि पहले श्रीकांत का रुझान समाजवादी विचारधारा की तरफ़ था। जिसके सूत्रधार थे—डॉ. लोहिया। श्रीकांत की वैचारिक दृष्टि और उनके लेखकीय स्वधर्म पर गौर करें तो रचनात्मक स्तर पर वे हमेशा लोहिया की समाजवादी विचारधारा के पोषक रहे। समाजवादी विचारधारा का यह असर श्रीकांत की दो-टूक वाणी से लेकर उनकी कविता और गद्य में छाया हुआ हैं। डॉ. लोहिया के असामयिक अवसान के पश्चात् समाजवादी आन्दोलन में जबरदस्त बिखराव आया। ज़ाहिर है समाजवादी बुद्धिजीवियों के लिए यह मोहभंग का दौर था। श्रीकांत स्वीकार करते हैं कि 1969 में श्रीमती गाँधी ने ऐसे क़दम उठाये जिसे वे अब भी बहुत जनवादी मानते रहे। सम्भवतः उन्हीं से व्यक्तिगत तौर पर प्रभावित होकर वे कांग्रेस में गये।

कांग्रेस की राजनीति में श्रीकांत वर्मा के प्रवेश को लेकर तब साहित्यिक हलके में बहुत हंगामा हुआ था। अनेक लेखकों-बुद्धिजीवियों ने इसे श्रीकांत की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा कही। और यह भी कहा गया कि साहित्य उनके लिए सत्ता तक पहुँचने की एक सीढ़ी है। कुछ तो ऐसी टिप्पणियाँ भी की गयी हैं जिनका शाब्दिक उल्लेख करना श्रीकांत की आत्मा के प्रति ज़्यादती होती। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि श्रीकांत जब दिल्ली आये तो उनके भीतर सिर्फ़ साहित्यिक महत्त्वाकांक्षा थी। उनके साहित्यिक संघर्ष के इतिहास को अनदेखा करना बौद्धिक ग़ैर-ईमानदारी होगी। उनकी यह साहित्यिक महत्त्वाकांक्षा जीवन के अंत तक बनी रही। यह कहना ग़लत निष्कर्ष निकालना होगा कि साहित्य उनके लिए सत्ता तक पहुँचने की सीढ़ी

---

1. वही, परिशिष्ट पत्र

थी। जबकि उनका विचार था कि साहित्य एक सीमा तक समाज को बदल सकता है। उसे अंततः बदलने का माध्यम राजनीति ही हो सकती है। शायद इसीलिए वे सक्रिय राजनीतिक में गये। यह दूसरी बात है कि वह समाज को बदलने वाली राजनीति को नहीं बदल पाये। इतना तो तय है। जीवन के आख़िरी वर्षों में लिखे गये डायरी के पन्ने इस बात के गवाह हैं कि उन्हें वर्तमान व्यवस्था से सिर्फ़ असहमति ही नहीं थी बल्कि तीव्र घृणा थी। ऐसा लगता है कि कांग्रेस में सत्ता के दलालों की राजनीति से उनका मन भर गया था। देखने की बात यह है कि जिस दौर में उन्हें लोग घोर सत्तापिपासु समझ रहे थे, उस समय श्रीकांत कांग्रेस के भीतर ऐसी शक्तियों से अकेले लड़ रहे थे जो जीवन विरोधी, समाज विरोधी और राजनीति की स्वस्थ्य परम्परा के चरम विरोधी थे। उनकी प्रकाशित डायरियों में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं जो यह साबित करते हैं कि वे कांग्रेस के वर्तमान चेहरे से तीव्र घृणा करने लगे थे। डायरी का यह पृष्ठ देखिए—"मुझे विचार विभाग का ए.आई.सी.सी. के अन्तर्गत अध्यक्ष नियुक्त किया गया है। लगभग एक महीना पहले ही मुझे फोतेदार ने बताया था कि कांग्रेस अध्यक्ष ने मुझे विचार विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया है। मैंने तभी विरोध किया था क्योंकि अब मैं अलग होने की प्रक्रिया में हूँ। मुझे न कोई पद चाहिए न प्रतिष्ठा। मैं तो बाक़ी बचा जीवन सिर्फ़ लेखन में व्यतीत करना चाहता हूँ... मेरा काम क्या होगा? बुद्धिजीवियों को संगठित करना। कैसे संगठित करूँगा उन्हें? और किसलिए?

कुछ मेरे अपने प्रभाव से भले ही विचार विभाग में आ जायें : कोई-न-कोई तो तमाचा जड़ेगा : बुद्धिजीवी के साथ तुम्हारी पार्टी कैसा सलूक करती है, इसका प्रमाण तो तुम खुद हो। अभी दो महीना हुए तुम्हें जुतिया कर निकाल दिया गया। तुम बेहया हो और यह सही है।

मेरे साथ बांडेड लेबर जैसा सलूक किया जा रहा है।"[1]

तब श्रीकांत के लिए कांग्रेस और उसकी राजनीति एक चक्रव्यूह हो गयी थी जिससे वे निकलने के लिए छटपटा रहे थे। उनकी मनोदशा का एक वक्तव्य यह है—"मैं एक चक्रव्यूह में फँस गया हूँ। निकलना चाहता हूँ, रास्ता नहीं मालूम, जिधर से निकलने की कोशिश करता हूँ, सिर दीवार से टकरा जाता है। शायद यहीं मारा जाऊँगा, इसी तरह इस चक्रव्यूह के भीतर, छटपटाता, चीख़ता, चिल्लाता, आर्तनाद करता हुआ अरण्यरोदन।" (4 दिसम्बर, 1985)

एक राजनीतिक के रूप में श्रीकांत वर्मा का मूल्यांकन किया जाय तो उनकी दिलचस्पी केवल कांग्रेस पार्टी के लिए नहीं, अपितु देश के अवाम के लिए उनके मन में गहरा प्रेम था। वे लोकतन्त्र में गहरा विश्वास करते थे। देश की अर्थव्यवस्था

---

1. 29 नवम्बर 1985, श्रीकांत वर्मा रचनावली, पृष्ठ 446

के लिए वे नेहरू की आधुनिक टेक्नोलाजी के तो पक्षधर थे किन्तु वे नेहरू को गाँधी का विकल्प नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में गाँधी बीसवीं शताब्दी के अकेले महानायक हैं। जिनसे भारतीय समाज ही नहीं आलोकित होता है बल्कि समूची दुनिया उनकी कृतज्ञ है। वे भारतीय राजनीति में गाँधी को पूजा या जाप की वस्तु बनाने की बजाय उनके जीवन और राजनीतिक मूल्यों की स्थापना के हिमायती थे। दुर्भाग्यवश आज की राजनीति ने गाँधी को न केवल देश निकाला कर दिया है बल्कि कहना चाहिए गाँधी की जितनी धज्जियाँ इस देश में आज़ादी के इन पचास वर्षों में उड़ायी गयी हैं, उतना शायद ही दुनिया की राजनीति ने अपने जननायक के साथ ऐसा सलूक किया हो।

श्रीकांत भारतीय राजनीति में गाँधी, राम मनोहर लोहिया के वैचारिक अवसान से इतने आहत हुए कि जीवन के अन्तिम लमहों में उन्हें लगा कि राजनीति मेरे लिए एक ग़लत जगह थी क्योंकि वहाँ मूल्य नहीं मूल्यों का क्षरण था। विचार नहीं विचारों की हत्या थी। जिससे क्षुब्ध होकर उन्होंने 'कोसल में विचारों की कमी है' शीर्षक कविता में स्पष्ट कहा—'कोसल अधिक दिन तक टिक नहीं सकता।'

सन् 1980 में श्रीकांत वर्मा मुखर होकर भारतीय राजनीति में प्रविष्ट हुए थे। कहा जाता है कि सन् 80 में कांग्रेस की वापसी में श्रीकांत वर्मा का योगदान अन्यतम था। सन् 80 के आम चुनावों में सुनियोजित प्रचार तंत्र के जरिये श्रीकांत ने अपने सम्मोहक नारों के माध्यम से भारतीय जनमानस के भीतर कांग्रेस के लिए एक नयी लहर पैदा की। यही काम उन्होंने सन् 84 के चुनावों के दौरान भी किया। देश में जब पंजाब आन्दोलन के दौरान आतंकवाद का ख़ौफ़ छाया हुआ था, तब श्रीकांत ने उसका पार्टी प्रवक्ता की हैसियत से तीव्र विरोध किया। जिसके चलते उन्हें आतंकवादियों की धमकियाँ सुननी पड़ीं। वे बाक़ायदा आतंकवादियों की हिटलिस्ट में थे। लेकिन श्रीकांत अपने मनसूबों से पीछे नहीं हटे। सन् 84 में ही पार्टी ने उन्हें अपना प्रमुख महासचिव बनाया। इससे पार्टी और देश की राजनीति में उनका क़द शीर्ष राजनीतिज्ञों में गिना जाने लगा पर उनकी राजनीतिक और बौद्धिक लोकप्रियता पार्टी के भीतर कुछ ओछे नेताओं को रास नहीं आयी। लिहाजा श्रीकांत के ख़िलाफ़ भीतर-ही-भीतर विरोधी शक्तियाँ लामबन्द हुईं, जिससे श्रीकांत बेख़बर रहे। फल यह हुआ कि पार्टी आलाकमान ने स्वस्थ्य न होने के बहाने से अकारण उन्हें महासचिव और पार्टी प्रवक्ता पद से हटा दिया।

राजेन्द्र माथुर ने श्रीकांत के इस राजनीतिक अवसान पर बहुत सटीक टिप्पणी की है : "इसमें सन्देह नहीं कि इका के एक महासचिव के रूप में श्रीकांत वर्मा एक शक्ति पुरुष बन गये। लेकिन उनके राजनीति में जाने से कवि और बुद्धिजीवी के रूप में उनकी छवि पर विपरीत प्रभाव पड़ा। न वे मूलतः एक राजनीतिक प्राणी थे और न पार्टी अथवा प्रदेश में उनके समर्थकों की फ़ौज थी। श्रीकांत वर्मा जैसा

बुद्धिजीवी पार्टी के शीर्ष नेताओं को तो रास आता था लेकिन वह पार्टी का खाँटी नेता स्वयं न बन सका। वह अपनी बौद्धिकता का भी इस्तेमाल पार्टी में नहीं कर सका। जब श्रीकांत वर्मा पार्टी प्रवक्ता बने तो वे यह भूलने लगे कि वे एक प्रखर बुद्धिजीवी होकर नहीं बल्कि आज्ञापालक होकर ही बच सकते हैं।"[1]

श्रीकांत वर्मा के साथ दिक़्क़त यही थी कि वे राजीव गाँधी के आज्ञापालक नहीं हो सकते थे। वे आज्ञापालक तो इंदिरा गाँधी के भी नहीं हो सकते थे, जो उन्हें बहुत प्रिय थीं। यहाँ तक कि वे साहित्य की दुनिया में अज्ञेय सरीखे शीर्ष व्यक्तित्व के भी हमराही नहीं बन सके। जिसके चलते उन्हें *तीसरा सप्तक* में शामिल नहीं किया गया। वे नयी कविता के दौर में सबसे ज़्यादा असहमति और जिरह अज्ञेय से करते थे। यह दूसरी बात है कि अज्ञेय ने श्रीकांत के अवसान को निजी क्षति बतलाते हुए उन्हें हिन्दी के 'सनातन डिसेंट' का कवि कहा था। यही नहीं, अज्ञेय ने उनकी चिता में लेखकों की ओर से मुखाग्नि दी।[2] इसलिए यदि श्रीकांत मौजूदा राजनीति के जलसाघर में विफल होकर नितांत अगल-थलग पड़ गये तो इसके पीछे उनका लेखकीय स्वाभिमान ही उत्तरदायी था जो किसी के सामने झुक नहीं सकता था। टूट सकता था ज़रूर और वह बुरी तरह टूटा, इस क़दर टूटा कि जीवन से ही विदा हो जाना पड़ा। इसलिए मैं कहना चाहता हूँ, श्रीकांत की आकस्मिक मृत्यु में भारतीय राजनीति के बजबजाते नरक का बहुत बड़ा हाथ है। जिसने एक अत्यन्त संवेदनशील और प्रखरतम साहित्यिक व्यक्तित्व को हिन्दी संसार से असमय छीन लिया। हिन्दी साहित्य का ऐसा गतिमय व्यक्तित्व जिसने अपने किशोर जीवन में सन् 50 के आस-पास एक भावुक गीतकार के रूप में साहित्यिक जीवन की शुरूआत की, पर गजानन माधव मुक्तिबोध, हरिशंकर परसाई के विद्युत-स्पर्श के बाद 1960 के आस-पास हिन्दी के प्रखरतम आधुनिक कवि के रूप में अपनी असाधारण ख्याति अर्जित की थी।

सन् 1984 में मगध की कविताओं से गुज़रते हुए श्रीकांत अपने जीवन की आख़िरी सीढ़ियों पर जिस मनःस्थिति में पहुँच चुके थे, वह रास्ता उनके सक्रिय राजनीति से तीव्र मोहभंग था, जहाँ वे अपने सजग और ईमानदारी भरे नैतिक क्षोभ के साथ वर्तमान राजनीति और व्यवस्था से ऊब चुके थे और इस नतीजे पर भी पहुँचे कि यह व्यवस्था नाकाफ़ी हो चुकी है। वहाँ से फिर लौटे साहित्य की ओर ...लौटे पर देर हो चुकी थी। अमेरिका में कैंसर के स्लोन केटरिंग मेमोरियल अस्पताल में मृत्यु उनकी प्रतीक्षा कर रही थी।

---

1. श्रीकांत वर्मा के न होने का अर्थ (सम्पादकीय) 27 मई 1986, *नवभारत टाइम्स*
2. देखें, श्रीकांत वर्मा रचनावली, खण्ड-4 का आख़िरी चित्र)

साहित्य श्रीकांत वर्मा का घर था और राजनीति उनके लिए बाहर निकले किसी व्यक्ति के लिए सड़क जैसी थी। यह सड़क ग़लत रास्ते की ओर मुड़ी या सही, इस पर विवाद की पर्याप्त गुंजाइश है। पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह सड़क उनका घर नहीं थी। सड़क कभी किसी आदमी का घर नहीं होती। यद्यपि श्रीकांत अपनी काव्य स्वीकारोक्ति में कहते हैं—

चाहता तो बच सकता था
मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा
कैसे रचेगा? (हवन)

यह विडम्बनापूर्ण काव्य टिप्पणी शायद उनके कठिन जीवन और कृतित्व पर आज ठीक-ठीक लागू होती है।

श्रीकांत वर्मा के अवसान पर उनके अनन्य मित्र और साहित्यिक सहचर नामवर सिंह की यह अर्थपूर्ण श्रद्धांजलि उनके विडम्बनापूर्ण जीवन-लेखन पर आज शायद सबसे सटीक टिप्पणी है : "वे हिन्दी के अकेले कवि हैं जो परदेस में जाकर मरे। अगर राजनीति में न गये होते तो अन्तिम समय में न्यूयार्क न गये होते। हमारे बीच जीते या मरते जैसा कि वे जिये। क्या विडम्बना है कि मध्य प्रदेश के एक उपेक्षित कस्बे में पैदा हुए इस कवि को अपने गाँव, अपने प्रदेश, अपने देश की मिट्टी में मरने के लिए दो गज़ ज़मीन भी न मिली?

...श्रीकांत ने हिन्दी की टुच्ची आलोचना से विचलित होकर एक बार कहा था कि मेरी बहस सार्त्र से है। राजनीति भले ही उनका कर्मक्षेत्र रहा हो पर उनका धर्म-क्षेत्र कविता ही थी। उन्होंने नक़ली कवियों की वसुन्धरा में अपना मुहावरा बनाया। इस मुहावरे को हासिल करने में उन्होंने वर्षों लगाये थे। मृत्यु और सत्ता इसे मिटा नहीं सकती।"[1]

---

1. श्रीकांत वर्मा के निधन पर साहित्य अकादमी की शोक सभा में दिये गये वक्तव्य से : 1986

2

मैं एक भागता हुआ दिन...

श्रीकांत वर्मा के कवि-कर्म पर विचार करते हुए उनके काव्य संसार और काव्य विकास पर ग़ौर करने की ज़रूरत है। क्योंकि उनकी कविता का पाट इतना लम्बा-चौड़ा है कि पाठक के लिए यह याद करना मुश्किल होता है कि उनके काव्य-भूगोल की सरहदें क्या हैं? श्रीकांत की काव्य-यात्रा देश की ठीक आज़ादी से आरम्भ होती है। उन्होंने सन् 1948 में पहले-पहल कविताएँ लिखनी आरम्भ की थीं, जो *तूफ़ान, अजंता, सारथी, राष्ट्रवाणी, प्रतिभा, नयी दिशा, नया ख़ून, नागपुर टाइम्स, नया पथ* जैसी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं।

श्रीकांत वर्मा रचनावली के पहले खण्ड में 'कविता की खोज' शीर्षक कविता को मैंने अब तक प्राप्त श्रीकांत की कविताओं में पहली कविता माना है जो दिल्ली से प्रकाशित तब के *नयापथ* के नवम्बर 1954 के अंक में प्रकाशित हुई थी। यह कविता सम्भवतः श्रीकांत ने 1951-52 के दौरान लिखी थी। अगर शीर्षक को ध्यान रखकर ग़ौर करें तो यह कविता न केवल श्रीकांत के कवि-कर्म की आरम्भिक खोज है बल्कि काव्यानुभूति की बनावट के लिहाज़ से भी यह कविता उनके आरम्भिक कवि-कर्म के प्रथम चरण के रूप में प्रकट होती है। इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता और उपलब्धि इसका छन्द है। दिलचस्प बात यह है कि इस छन्द में आगे शायद ही कोई कविता श्रीकांत ने दुबारा लिखी हो। पारम्परिक छन्दों को तोड़कर कविता को काग़ज़ों पर शब्दों के दाने की शक्ल में बिखेर देने वाला यह कवि अपने कवि-कर्म की शुरुआत इस तरह के पारम्परिक छन्द में कर सकता है, यह अपने आपमें एक दिलचस्प उदाहरण है। इससे यह तथ्य भी ज़ाहिर होता है कि श्रीकांत वर्मा ने कालान्तर में मुक्त छन्द के विन्यास को साधने में कितना आत्मसंघर्ष किया। इस पहली कविता की पंक्तियाँ देखने योग्य हैं–

कल्पना की सीढ़ियों से
चढ़ गया मैं चाँद तक;

बहुत ढूँढ़ा पर मिली कविता नहीं
चाँदनी की राख ठण्डी, अँगुलियों से भी हटायी
ठिठुरती धरती दिखी

× × ×

अन्त में उफना रहे से वक्ष में मैं खो गया
सिसकियों की सेज पर मैं स्वप्न बनकर सो गया
सांत्वना बेशक मिली, कविता नहीं

× × ×

दृष्टि में मेरी, दिशा, नव कमल जैसी खिल गयी है
पास ही अपने मुझे कविता मनुज की मिल गयी है
वह वहाँ है जहाँ बिजली सदृश हँसिये चमकते हैं
गन्ध बनकर प्राण मिट्टी के महकते-गमकते हैं
लहू बनकर फूलती है वह श्रमिक जल की मसल में
सरसराती है हवा बन क्वार की पिउरा फ़सल में

(कविता की खोज)

स्वयं की इन कविताओं पर श्रीकांत वर्मा की टिप्पणी है "कविताएँ मैंने सबसे पहले 1948 में लिखी। पर 1948 से 1952 तक का लेखन मुझे अब बचकाना और नौसिखुआ लगता है। ख्याति मुझे 1956 में 'संकेत' (सं. उपेन्द्रनाथ अश्क) में प्रकाशित अपनी कविताओं के कारण मिली।"[1]

श्रीकांत के काव्य-विकास पर ग़ौर करें तो सन् 1948 से लेकर फ़रवरी 1996 तक यानी लगभग आधी शताब्दी के दौर में उनकी काव्य-यात्रा के तीन चरण लक्षित किये जा सकते हैं।

पहला दौर 1948 से लेकर 1959 तक है जिसे श्रीकांत वर्मा का छत्तीसगढ़ कहा जा सकता है। दूसरा दौर, 1960 से लेकर 1973 तक का है जिसे राजनीतिक-सामाजिक विसंगतियों का यथार्थ और जो घटा है बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ के रूप में देख सकते हैं। तीसरे और अन्तिम दौर की वे कविताएँ हैं जो सन् 1979 से लेकर जीवन के आख़िरी वर्ष 1986 (फ़रवरी) के दौरान लिखी गयी हैं, जिसे श्रीकांत वर्मा का मगध कहा जा सकता है।

काव्य विकास के इन तीन चरणों का विभाजन उनकी काव्य-चेतना में आये बदलावों के आधार पर देखना चाहिए। यह कवि की कविता का समय विभाजन नहीं है, बल्कि जहाँ कवि अपनी काव्य-यात्रा में समय से बाहर जाकर एक-दूसरे

---

1. वही, परिशिष्ट, पत्र

समय की खोज करता है, वहाँ उसकी कविता में बदलाव के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। यह संकेत श्रीकांत वर्मा के कवि-कर्म में उनकी आरम्भिक *सरहद पर* (असंकलित कविताएँ) और *भटका मेघ* (1957) संग्रह की कविताओं के बाद 1959 में लिखी 'घरधाम' कविता में मिलता है। इसके पूर्व श्रीकांत एक रोमैण्टिक आवेग के साथ छत्तीसगढ़ अंचल के परिवेश में अपने अस्तित्व की खोज कर रहे थे। ज़ाहिर है वे अपनी वास्तविक काव्य-भूमि की खोज से बेचैन थे। जिस 'घरधाम' कविता का हवाला दिया गया है, श्रीकांत वर्मा के कवि-कर्म वह निर्णायक मोड़ है, जहाँ से उनकी कविता का दूसरा दौर शुरू होता है। दिल्ली की भूमि पर लिखी यह कविता पहली बार उनके सम्पादन में प्रकाशित *कृति* में प्रकाशित हुई थी। यह कविता उनकी घर वापसी की कविता भले न बन सकी पर उनके विकास की वह निर्णायक बिन्दु ज़रूर है जहाँ कवि रोमैंटिकता और भावुकता से भरी हुई ज़मीन को तोड़कर सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों से भरे यथार्थ का सामना करता दीखता है। श्रीकांत वर्मा ने इस बदलाव को खुद भी स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—"मेरी कविताओं में परिवर्तन का सिलसिला 1961 से आरम्भ हुआ। रोमैंटिक भावभूमि को छोड़कर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न निराश, संशय क्रोध इत्यादि।" पर मैं कहना चाहता हूँ परिवर्तन का यह संकेत 'घरधाम' कविता में बखूबी मिलने लगता है।

बाद में यथार्थ की इसी भूमि पर श्रीकांत ने *मायादर्पण* (1967), *दिनारम्भ* (1967) *जलसाघर* (1973) की कविताएँ लिखीं। हालाँकि *जलसाघर* में कविता का व्योम अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है, पर उसकी मूल चिन्ताओं में सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ की ही खोज है। उल्लेखनीय है कि श्रीकांत की कविता का दूसरा दौर उनके कवि-कर्म का उत्कर्ष काल है, जिसमें उन्होंने सर्वाधिक चर्चित कविताएँ लिखीं जिन कविताओं की चर्चा बार-बार की जाती है, वे हैं—मायादर्पण, नक़ली कवियों की वसुन्धरा, बुख़ार में कविता, समाधिलेख, घरधाम, दिनचर्या, दिनारंभ, प्रेस वक्तव्य, पटकथा। ज़ाहिर है इन कविताओं ने सातवें दशक की कविता में देश के राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ को उलट-पुलट दिया। नयी कविता का आभिजात्य मिथ काव्यानुभूति और काव्यभाषा के स्तर पर पूरी तौर पर टूट गया। शायद इन्हीं कविताओं के ज़रिये श्रीकांत वर्मा को नयी कविता का आख़िरी नाराज़ कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

जलसाघर की कविताएँ श्रीकांत ने सन् 70 के बाद लिखनी आरम्भ की थीं। सन् 73 में यह संग्रह प्रकाशित हुआ। उल्लेखनीय है कि श्रीकांत ने उस दौरान विश्व के अनेक देशों की यात्राएँ कीं। वहाँ के समाजों में मनुष्य की नियति को देखकर उनका कवि-मन काँप उठा। वे *जलसाघर* की एक कविता में बयान करते हैं, जो घटा है बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ/काँपते हैं हाथ/सम्भव नहीं है कविता में

बयान कर पाना।" इस तरह *जलसाघर* की कविताएँ एक तरह से बीसवीं शताब्दी के नरक से साक्षात्कार हैं–जहाँ पूरी दुनिया का मनुष्य नरक और दहशत के बीचों-बीच खड़ा है। काव्य विकास की दृष्टि से देखें तो श्रीकांत *जलसाघर* की कविताओं के बहाने समूचे विश्व से मनुष्य के लिए विनय कर रहे थे। उनकी कविता की दिशा यहाँ ग्लोबल हो गयी है। इस संग्रह की आख़िरी कविता कलिंग-1 को ग़ौर से देखें तो लगता है अशोक की शोकाभिभूत उदासी में मगध की कविताओं की अनुभूति अविकसित मात्रा में मौजूद है। इस कविता में कलिंग विजय के लिए उद्विग्न रक्त पिपासु अशोक ने शस्त्र रख दिये हैं। उसके कानों में हताहतों की चीख़ सुनाई पड़ रही है। श्रीकांत अन्तिम पंक्ति में कहते हैं: 'केवल अशोक लड़ रहा था'–युद्ध के ख़िलाफ़ शान्ति के लिए।

ऐसा लगता है *जलसाघर* का वह अशोक केवल कलिंग के शोक को ही अपने भीतर समाहित नहीं करता बल्कि वह मगध की ओर बड़ी निराशा से लौटता है। वैसे भी कलिंग से मगध दूर नहीं। श्रीकांत के काव्य-प्रस्थान पर गौर करते हुए मुझे बार-बार *जलसाघर* का आख़िरी नायक अशोक याद आता है। जैसे वह अपनी उदासी और निराशा के साथ मगध की कविताओं में लौटकर अपने समय की व्यवस्था का मर्सिया लिख रहा है।

मगध (1984) और *गरुड़ किसने देखा है* (1986) की कविताओं के साथ श्रीकांत की कविता की दिशा जैसे उलटी धारा में बहती नज़र आती है। मगध की कविताएँ कवि ने 80 के आस-पास लिखनी आरम्भ की थीं। पहली बार जब ये कविताएँ *पूर्वग्रह* और अन्यत्र प्रकाशित हुईं तो समकालीनता की भेड़चाल से अभ्यस्त अनेक कवियों, समीक्षकों, पाठकों की यह सहजात प्रतिक्रिया हुई कि श्रीकांत अब यथार्थ से भागकर इतिहास और अतीत में शरण ले रहे हैं। पर सच्चाई यह थी कि अपने समय, समाज और राजनीति के भयानक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए श्रीकांत को समकालीन कविता का मुहावरा नाकाफ़ी लगा। इसलिए वे व्यवस्था की अधोगति व्यक्त करने के लिए अपने समय से ढाई हज़ार साल पीछे गये। इस संग्रह की कविताओं में कहीं-कहीं वे इतिहास और संस्कृति में पाँच हज़ार वर्ष पीछे जाते हैं और वहाँ से अपने समय के सच पर फ़ोकस करते हैं। यह फ़ोकस अतीत में पलायन का नहीं बल्कि अतीत के बहाने अपने समय के यथार्थ में आकंठ धँसने की एक पुरज़ोर तैयारी है।

इसलिए आठवें दशक की युवा कविता के बीच *मगध* काल, इतिहास और व्यवस्था के चक्रव्यूह के बीच फँसे एक कवि के करुण उद्‌गार हैं जिसकी पुकार हिन्दी कविता में पहली बार सुनी गयी। इस पुकार को न सुनना एक कवि के अर्जित इतिहास बोध को नकारना है जो हिन्दी कविता की मौजूदा ज़मीन पर खड़ी अपनी

काव्य चेतना में भारतीय इतिहास के पाँच हज़ार वर्षों की काल चेतना के स्फुरण को महसूस कर रहा था।

ध्यान देने की बात है कि *मगध* (1984) और *जलसाघर* (1973) के बीच श्रीकांत एक दशक तक ख़ामोश रहे। इस दौरान उन्होंने कविता की बजाय गद्य लिखा। कविता के मोर्चे पर वे चुप थे। लेकिन उनकी उस चुप्पी में एक विराट हलचल थी। इस चुप्पी भरी हलचल में श्रीकांत अपने को बदल रहे थे। जैसा कि उन्होंने खुद कहा है; "सन् 1974 के आस-पास अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर यह आवेग धारा मेरी कविता में रुक गयी। लगभग दस वर्षों तक रुकी रही। लेकिन जैसा कि मैंने कहा, कविता कभी ख़त्म नहीं होती।

मेरी पिछली जबान में चटखारापन था, नयी जबान में मितव्ययिता और सादगी होनी चाहिए। मेरी पिछली कविताओं में भूगोल था। मेरी नयी कविताओं में काल होना चाहिए और कालातीत भी। मगर यह इतिहास का काल या काल खण्ड नहीं। यह वह काल है जो इतिहास को जन्म देता है और लील लेता है... स्मृतियों का प्रतिफल आँसू है। मैं आँसू नहीं बहा रहा हूँ। ज़ाहिर है कलिंग, मगध, अवंती, कोशल सिर्फ़ स्मृतियाँ नहीं हैं, न ही आम्रपाली, वासवदत्ता, चन्द्रगुप्त और अशोक। मैंने तो अभी-अभी कुछ ही क्षण हुए अशोक को कलिंग से लौटकर इधर से गुज़रते हुए देखा था...कहाँ है अशोक?"[1]

देखा जाय तो इन तीन दौर की काव्य-यात्राओं में श्रीकांत हर बार अपने को रद्द क़रार कर एक नयी काव्यभूमि की खोज करते हैं। श्रीकांत का यह काव्य विकास एक-रेखीय नहीं है बल्कि वे कई बार-बार अपनी कविता में काव्यानुभूति और काव्यभाषा के स्तर पर स्वयं की बनी-बनायी मूर्ति को बड़ी निर्ममतापूर्वक तोड़ते हैं। अपनी बनी-बनायी मूर्ति को तोड़ना और फिर एक नयी मूर्ति को गढ़ना उनके असाधारण काव्य सामर्थ्य का प्रमाण तो है ही, साथ ही उनके अनथक काव्य अन्वेषी होने का भी सबूत है। आज उनकी काव्य-यात्रा के ये मोड़ श्रीकांत के कवि-कर्म से साक्षात्कार के लिए ज़रूरी स्मृति चिह्न हैं।

---

1. *मगध* प्रकाशन के अवसर पर दिया गया, वक्तव्य, 2 जुलाई 1984

3

श्रीकांत वर्मा का 'छत्तीसगढ़'

श्रीकांत वर्मा की आरम्भिक कविताएँ 'सरहद पर', जो *भटका मेघ* काव्य संग्रह (1957) के प्रकाशित हो जाने के बाद, कवि के अवसान तक अँधेरे में पड़ी रहीं, को पढ़ते हुए अजीब आसक्ति होती है, क्योंकि इसमें एक बिल्कुल युवा कवि की सीधी, सरल और निश्चल भावनाओं का बहुत सहज उद्‌गार मिलता है। तब श्रीकांत की उम्र चौबीस थी। इस उम्र में एक युवा के जितने सपने और संघर्ष भरी जिजीविषाएँ हो सकती हैं, उसे कवि ने वाणी दी है। इस वाणी में छत्तीसगढ़ की आवाज़ है। दुर्भाग्यवश कवि की इस आरम्भिक आवाज़ को बहुत देर से सुना गया : क्योंकि ये कविताएँ अब प्रकाशित हो पायी हैं। *भटका मेघ* में कवि ने इसे शामिल नहीं किया था। शायद श्रीकांत को इस बात का अन्देशा था कि इन आरम्भिक कविताओं के चलते उन्हें गीतिधर्मी संवदेना का कवि न मान लिया जाय। यद्यपि यह ऐतिहासिक सच्चाई है कि नयी दिशा निकालने तक श्रीकांत एक शुद्ध गीतकार थे। उन्हें यथार्थ पर खड़ा किया मुक्तिबोध ने। पर सवाल उठता है, क्या एक बड़े कवि को अपने आरम्भिक स्वर से, पदचिह्नों से परहेज़ करना चाहिए? सच्चाई यह है कि वे आरम्भिक स्वर और पदचिह्न ही एक कवि को उसके मुकाम तक पहुँचाते हैं जहाँ वह अपनी सम्पूर्ण आवाज़ के साथ उपस्थित होता है। आज अगर मगध श्रीकांत की सम्पूर्ण वयस्क आवाज़ है तो *भटका मेघ* और *सरहद पर* श्रीकांत की वह किशोर अवयस्क और कच्ची वाणी है जिसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। इस वाणी में छत्तीसगढ़ की धरती बोलती है। जैसे केदारनाथ सिंह की आरम्भिक कविताओं, गीतों में पूर्वी उत्तर प्रदेश की आवाज़ है। केदारनाथ सिंह की खासियत यह है कि पूरब की उस आवाज़ को आज भी भूल नहीं पाये हैं। माझी का पुल और इधर भिखारी ठाकुर सरीखी कविताओं में केदार की यह आवाज़ और सघन होती है।

श्रीकांत वर्मा के साथ दिक्क़त यह हुई कि उन्होंने कालान्तर में छत्तीसगढ़ की इस आवाज़ को भूलने की कोशिश की। *मायादर्पण, दिनारंभ, जलसाघर* और

फिर *मगध* तक आते-आते उनका छत्तीसगढ़ी स्वर लगभग छूट गया। कवि के भावबोध बदल गये, उसकी भाषा बदल गयी। मैं यहाँ निर्मल वर्मा की उस बात को फिर दोहराता हूँ, जो उन्होंने श्रीकांत के कवि के सिलसिले में कहा था "श्रीकांत के व्यक्तित्व में एक गहरी कस्बाई संवेदना थी। यद्यपि वे जीवन भर इस कस्बाई संवेदना को तोड़ने की कोशिश में परेशान रहे।" यही बात श्रीकांत वर्मा के समकालीन केदार नाथ सिंह का भी मानना है "यह कस्बाई लगाव श्रीकांत जी के साहित्य में बराबर बना रहा। जो लोग उनको निकट से जानते हैं, वे यह भी जानतें हैं कि आधुनिक जीवन के सारे तामझाम के बीच उनके भीतर एक चौकन्ना कस्बाई इन्सान हमेशा मौजूद रहता था। यह चौकन्नापन लगभग उसी तरह का था जैसा एक छोटे शहर से महानगर में आने वाले व्यक्ति में पहले-पहल होता है। इस चौकन्नेपन को कई बार उनकी कविताओं में भी लक्ष्य किया जा सकता है। बहुत-से लोगों के लिए यह कल्पना करना कठिन होगा कि वे अपने कस्बाई जीवन की जड़ों के बीच जाकर कितने सहज और तनावमुक्त हो जाते थे...। मुझे बराबर लगता है कि इस कस्बाई लगाव ने श्रीकांत की लम्बी काव्य-यात्रा में हमेशा एक सेंसर का काम किया है, सारे पश्चिमी प्रभाव के बीच एक चुपचाप सजग और सक्रिय सेल्फ सेन्सर।"[1]

श्रीकांत की आरम्भिक कविताओं के सिलसिले में निर्मल और केदार के ये दोनों वक्तव्य ध्यान देने की चीज़ हैं। इन आरम्भिक कविताओं में श्रीकांत के सरल युवा मन की असंख्य अनुगूँजे हैं। इन कविताओं में तनाव नहीं बल्कि युवामन की सहज बेचैनी है। श्रीकांत की संघर्षकाल शीर्षक कविता में उनकी यह उकताहट देखने लायक़ है—

यह उकताहट, यह उमस
और भिनभिना रही ध्वनियों को सुनते सुन्न कान!
यह भारी-भारी हवा नमक की गाड़ी-सी!
यह ऊबी ऊबी साँझ
बस कभी-कभी चिमगादड़ के पंखों की फटफट
मुझे सुनाई पड़ती है
मेरे संवेदन की फुनगी मेरी छाती में गड़ती है
मन की बस्ती में सुधियों की है लालटेन
इच्छाएँ गूँगी-सी
घुटनों पर शीश झुकाये बैठी हैं

× × ×

1. (*आलोचना* : जुलाई-सितम्बर 86, पृष्ठ 44)

मेरी सिसकी की जड़ें साँस के अन्दर हैं
मेरी साँसें कमज़ोर नहीं
हर घटना के पीछे घटना
हर एक कार्य का कारण है
(संघर्षकाल)

इन प्रारम्भिक कविताओं में एक युवामन की किशोर संवेदना में वयःसन्धि का परिचय मिलता है। इस वयःसन्धि में किशोर उद्वेग की रागमयी गर्माहट मिलती है, जिसमें प्रकृति और मनुष्य का सौन्दर्य एकाकार हो उठता है। 'दूज का चाँद' प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुपम छवि बिखरेती है—

चाँद दूज का
जैसे किसी सुन्दरी की सुकुमार
कलाई का टूटा चाँदी का कंगन

चाँद दूज का
जैसे बंग सुन्दरी की वेणी में
सज्जित क्लिप चाँदी का
जिसे चूमने चला आ रहा है
मस्ती में लहराता बादल।
(दूज का चाँद)

फिर पूरा चाँद का यह दृश्य देखिए—

वह चंदा का कमल खिला है गगन ताल में
तारों की बत्तखें सरवर में तैर रही हैं
× × ×
रात शरण लेगी तब पच्छिम की बाँहों में
वह जागरण नर्स निदिया के घाव भरेगी
कूल चाँद का छिप जायेगा दिवस बाल में
(पूरा चाँद)

ग्रहण चाँद का यह दृश्य भी देखने योग्य है—

शशि कपोत पर
झपट रहा है बाज राहु का

गगन नीड़ में दुबके

× × ×

सोच रही है शर्वरी नायिका
राहु 'विलन' के आते ही
शशि नायक का मुँह स्याह पड़ गया।

(ग्रहण का चाँद)

ये तीनों काव्यचित्र प्रकृति सौन्दर्य के मानवीकरण हैं। इनमें व्यक्त प्रयोग अटपटे लग सकते हैं। मसलन जागरण की उपमा नर्स से, राहु की उपमा विलन (खलनायक) से लेकिन दूज का चाँद जैसे किसी सुन्दरी की सुकुमार कलाई से टूटा चाँदी का कंगन, जैसे किसी बंग सुन्दरी की वेणी में सज्जित चाँद का क्लिप जैसे नायाब उपमान एक बिल्कुल युवा कवि की कल्पनाशीलता के सुन्दर उदाहरण बन जाते हैं।

इन प्रारम्भिक कविताओं में छत्तीसगढ़ की प्रकृति बोलती है। प्रकृति का ऐसा रंग आज के बहुत कम युवा कवियों के पास है। श्रीकांत की खूबी यह है कि वे प्रकृति को पंत की तरह सजाते-सँवारते नहीं बल्कि उसे ज्यों का त्यों काव्य में ढालना चाहते हैं। चूँकि तब उनके पास एक गहरी गीतात्मक संवेदना थी इसलिए इन गीतिधर्मी कविताओं में जीवन-रस उमगता है। दुपहर के दीप बने पलाश कविता में फागुन की उदास दोपहर का ऐसा वर्णन अलभ्य है—

वंशी के सुर तैरे, नदिया तक हाँक गयी
पीली-पीली-सी धूल वनों को चिलमन
बन कर ढाक गयी
क्षितिजों तक बासंती की सूनी-सूनी
चितवन ताक गयी
दुपहर के दीप बने पलाश
फागुन की यह दुपहर उदास

(दुपहर के दीप बने पलाश)

ऐसा ही मनोहारी दृश्य 'साँझ : फिर आना मीत' शीर्षक गीत में मौजूद है। यह श्रीकांत का प्रथम चर्चित गीत है जो *धर्मयुग* (1957) में प्रकाशित होने के साथ काफ़ी लोकप्रिय हुआ था। साँझ आते ही किस तरह प्रिय अपनी प्रियतमा को बुलाता है। यह दृश्य मन को बाँध लेता है—

डूब गये कहीं वंशी के स्वर/साँझ हुई
झूझकुर में दिन भर ऊँघी पीली धूप

अलसायी दोपहरी, अलसायी साँझ
संझा का सोन दिया सोनराया गाँव
पियराये ताल तलैया, खण्डहर कूप—
दिन भर बज खेतों में चुप है अरहर/ साँझ हुई
× × ×
जूड़े में फिर उगे संझा के फूल
हाथों में फिर थिरकन ओठों पर गीत
फिर आना ओ पाहुन, फिर आना मीत
सरिता के सूने तट पर संझा के फूल
रतनारी चाँद उगा, बजते मंदिर
साँझ हुई

(साँझ : फिर आना मीत)

यह पूरा गीत छत्तीसगढ़ की संस्कृति में एक गाँव में डूबती साँझ की दृश्यावली है। कहना न होगा, ऐसे दुर्लभ गीत कवि ने दुबारा नहीं लिखे। पर ये गीत श्रीकांत की गीतात्मक संवेदना और गेय काव्य को साधने की कला का एक अद्भुत नमूना है जो आधी शताब्दी बीत जाने पर भी छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति का साथ नहीं छोड़ती।

भटका मेघ की भूमिका में श्रीकांत वर्मा कहते हैं "*भटका मेघ* की कविताएँ अब सरसरी तौर पर पढ़ता हूँ तो वे मुझे दूर की पुकार की तरह लगती हैं। लेकिन जब उन्हें ग़ौर से पढ़ता हूँ, दोहराता हूँ, उनके रचना क्षणों को स्मरण करता हूँ तो वे अभी कल की बात लगती है—मेरे घर की बात, मेरे घर के पीछे बहती नदी की बात, जंगलों में गुज़रे मेरे बचपन की बात, पहाड़ों के समक्ष अपने छुटपन की बात...

मुझे वे प्रिय हैं क्योंकि उनमें मेरा खून बहा है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे *भटका मेघ* की कविताएँ कम प्रिय हैं। उन्हें पढ़कर मुझे पुनर्जन्म लेने की इच्छा होती है। मैंने अपनी कविता में लिखा है 'मैं अब घर जाना चाहता हूँ' लेकिन घर लौटना नामुकिन है; क्योंकि घर कहीं नहीं।"[1] *भटका मेघ* की कविताओं पर ग़ौर करें तो दो-तीन बातें ख़ास तौर से उभरती हैं। पहली तो यह कि कवि में अपने परिवेश के प्रति तीव्र लगाव है। यह लगाव दरअसल छत्तीसगढ़ का है, जहाँ श्रीकांत पले-पुसे और बड़े होकर अपनी पहचान के लिए व्यग्र थे। दूसरी बात कवि का प्रकृति के साथ उसके अटूट रिश्ते की है। तीसरी बात इन सारी स्थितियों के बीच कवि

1. *भटका मेघ*, दूसरा संस्करण, भूमिका : 1983

के भीतर का वह अहं है, जिसे बार-बार वह अपने परिवेश में प्रक्षेपित करता है।

भटका मेघ इस युवा कवि के मन का प्रतीक है जो लगातार अपनी पहचान के लिए भटक रहा है, इसीलिए इस संग्रह में 'यात्रा' शब्द का प्रयोग बार-बार होता है। अगर इस संग्रह की केन्द्रीय थीम को पकड़नी है तो पाठक को *भटका मेघ* जैसी महत्त्वाकांक्षी कविता के अर्थ संकेत को पकड़ना होगा। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने इस कविता का मूल्यांकन करते हुए तीन मुद्दे सामने रखे हैं—"पहला कवि का दायित्व बोध, उसका अन्तर्द्वन्द्व और उसके भीतर की बेचैनी, तीसरा धरती और मनुष्य के साथ लगाव...यह मेघ का नहीं स्वयं कवि का संकल्प है। ग़ौर करें तो मेघ का कर्म तो झरने के साथ ही समाप्त हो जाता है।"[1]

भटका मेघ की काव्यानुभूति की बुनावट को देखें तो पता चलता है—*भटका मेघ* स्वयं कवि की आस्था है जो जीवन की अनिश्चित यात्राओं में भटक गयी है। आसाढ़ का यह पहला बादल दरअसल श्रीकांत की आस्थाओं का प्रतीक है जो बार-बार भटकते हुए आस्था की खोज में बेचैन है। *भटका मेघ* की यह बेचैनी देखिए—

भटक गया हूँ
मैं आसाढ़ का पहला बादल
श्वेत फूल-सी अलका की
मैं पंखुड़ियों तक छू न सका हूँ
किसी शाप से शप्त हुआ
दिग्भ्रमित हुआ हूँ
शताब्दियों के अंतराल में घुमड़ रहा हूँ, घूम रहा हूँ
कालिदास! मैं भटक गया हूँ
मोती के कमलों पर बैठी
अलका का पथ भूल गया हूँ

(भटका मेघ)

यह अलका का पथ दरअसल कवि की आस्था का प्रश्न है, जिसको पाने के लिए वह बेचैन है। कवि के सामने प्रश्न है इसीलिए वह उत्तर खोज रहा है। यह प्रश्न है—अपने परिवेश में समग्र धँसने का। छत्तीसगढ़ की सूनी-प्यासी धरती की प्यास हरने का। वह कहता है—

---

1. *श्रीकांत वर्मा का रचना संसार*, सं. राजेन्द्र मिश्र, पृष्ठ 18

जिस पृथ्वी से जन्मा
उसे भुला दूँ
यह कैसे सम्भव है?
× × ×
मुझमें अन्तर्द्वन्द्व छिड़ा है
मुझे क्षमा करना कवि मेरे!
तुमने जो दिखलाया, मैंने
उससे कुछ ज़्यादा देखा है!
मैंने सदियों से मनुष्य को आँखों में घुलते देखा है
मेरा मन भर आया कवि
अब न रुकूँगा
अलका भूल चुकी मैं अब तो
इस धरती की प्यास हरूँगा
सूखे पेड़ों, पौधों, अकुओं की अब मौन पुकार सुनूँगा
सुखी रहे तेरी अलका, मैं
यही झरूँगा
अगर मृत्यु भी मिली
मुझे तो
यहीं मरूँगा।

आख़िरी पंक्तियों में कवि का संकल्प देखने लायक़ है। यह संकल्प अपनी धरती से सिर्फ़ लगाव का भर नहीं है वल्कि उसी के लिए मरने का संकल्प है। कहना न होगा,—श्रीकांत की *भटका मेघ* सरीखी कविताओं में अपने परिवेश के प्रति कितना तीव्र समर्पण और सम्मोहन है। समर्पण और सम्मोहन का यह स्वर *भटका मेघ* संग्रह की कविताओं में छाया हुआ है। मरुस्थल का एकलव्य, टूटी वंशी, पवन मुर्ग, अनपहचाना घाट, स्वरों का समर्पण, मन की चिड़िया, गली का सूर्यपुत्र, पुत्र का निवेदन, मुकुटहीन, बूढ़ा पुल, यातनापुत्र, जैसी अनेक कविताएँ हैं, जिनमें एक युवामन की बेचैनी जिस चीज़ को पाने के लिए सबसे ज़्यादा विकल है—वह है आस्था। क्योंकि उसके चारों तरफ़ अनास्था और संशय की लतरें फैली हुई हैं। वह आस्था इसलिए चाहता है क्योंकि जीवन-यात्रा पर वह दूर निकलना चाहता है। इसलिए उसे हर क्षण उसका अस्तित्वबोध भी सताता है—

मैं हर बच्चे की आँखों में
मैं हर लैला के

ओठों पर !
मैं हर सुहाग की बिन्दी में
मैं मेहंदी रची हथेली पर
मैं हर जाँते के चक्कर में
मैं हर
स्फूर्ति के अनुभव में

(बिन टहनी का गन्ध फूल)

ठहरो ! ठहरो ! ठहरो !
मेरी बाँबी मत रौंदों अपने पाँवों से
मुझमें अब भी विष है
मेरा विष ही मणि बन मुझको पथ दिखलायेगा।

(मणि सर्प)

रोप नहीं पायेगा
कोई भी मुझे किसी गमले में
मैं तेरी प्रतिभा हूँ

(गली का सूर्यपुत्र)

जब घबरा जाऊँ ओ मेरी आस्था !
मुझे आवाज़ लगाना तू

(आस्था)

धान रोपने वाले हाथों में बहुत-सा उजाला है।

× × ×

मुट्ठी में, मेंड़ों पर
रहट में पुकारों में
बहुत-सा उजाला है।

× × ×

लोहे को पानी-सा ढाल रही भट्टी में बहुत-सा उजाला है।

भुजा की मछलियों में
बहुत-सा उजाला है
आह ! अरे ! बहुत-सा उजाला है।

(बहुत-सा उजाला है)

इन काव्य पंक्तियों को ग़ौर से देखा जाय तो पता चलता है श्रीकांत की आरम्भिक आस्थाएँ प्रगतिशीलों की तरह चट्टानी थीं। वह डिगती हैं, गिरती हैं, फिर उठती हैं, हारती हैं, पर थकती नहीं। फिर उठती हैं—जीवन की आग बनकर। कवि की यह आस्था उसके आरम्भिक कवि-कर्म की एक दुर्लभ उपलब्धि है। यद्यपि वह पूरे संग्रह की कविताओं में इस तीसरे अन्तर्द्वन्द्व से घिरा हुआ है—

मैं तो इस ओर नहीं न उस ओर
मेरा क्या होगा?
क्या मैं हूँ तीसरा?
× × ×
शाम नहीं यह प्रश्नों की भोर
मेरा क्या होगा?

(तीसरा : एक अन्तर्द्वन्द्व)

यह मेरा क्या होगा? का असमंजस ही भटका मेघ की बेचैनी है। इसीलिए इस संग्रह में कवि मन की अनन्त यात्राएँ घटित होती हैं। पर इस संशय को स्थिरता देती है—कवि की आस्था और यह आस्था उसे छत्तीसगढ़ से मिलती है—

आओ
इन हाथों को मिट्टी या आग
या अँधेरे में सान दो
और समय को
नूतन आकृतियों में पकड़ो

हैं ये ही वे हाथ
कील में ठुके हुए जो
सूर्योदय को बुला रहे हैं।

(मेरे हाथ नहीं काँपेंगे)

इस सन्दर्भ में नंदकिशोर नवल की यह टिप्पणी सटीक लगती है—"इस काल में श्रीकांत की आस्था इतनी अभेद्य थी कि वे किसी प्रकार के प्रश्न या शंका को मन में जगह नहीं देना चाहते थे। अज्ञेय या नयी कविता के अन्य कवियों से उनकी लड़ाई इस बात को भी लेकर थी कि वे लोग कभी-कभी उन मूल्यों में सन्देह व्यक्त कर देते थे, जिनमें श्रीकांत की अखण्ड निष्ठा थी। इसी बात से प्रेरित होकर उन्होंने *भटका मेघ* की शंका और अहंसम्राट शीर्षक कविता लिखी।"[1]

---

1. *समकालीन काव्य-यात्रा*, पृष्ठ 165

भटका मेघ के प्रथम संस्करण की भूमिका लिखते हुए श्रीकांत ने 1957 में एक तरह से अज्ञेय को चुनौती देते हुए कहा था कि "नयी पीढ़ी के एक अग्रज के शब्दों में आज का साहित्य, व्यक्तित्व की खोज का साहित्य है। कुछ वर्ष पहले यही साहित्य मूल्यों की खोज का साहित्य था और उससे भी पहले राहों के अन्वेषण का। यह परिवर्तन मुहावरों में हुआ है। मूल अभिप्राय या इष्ट में नहीं। अतएव यदि आगे चलकर यही खोज का साहित्य घोषित कर दिया जाये तो कोई आश्चर्य नहीं... प्रश्न यही है कि आज की जीवंत कविता में कौन-सा व्यक्तित्व उभर रहा है? आज के जीवंत मूल्य कौन से हैं? राहों का अन्वेषण करने के लिए भी किसी मशाल की ज़रूरत होती है। अन्धकार के खण्डहरों में भटककर चिमगादड़ के पंखों की फटफटाहट को ही जीवन का एकमात्र चिह्न मान लेना एक और बात है, पथ की खोज करना एक और बात है।"[1]

भटका मेघ की कविताओं के आलोक में यह तथ्य ग़ौरतलब है कि श्रीकांत इन कविताओं के जरिये अज्ञेयवाद के बरक्स नयी कविता का एक दूसरा चेहरा उपस्थित कर रहे थे जिसकी जड़ें मुक्तिबोध की कविता में समाहित थीं। ध्यान देने की बात है कि नयी कविता का परिमल स्कूल अनास्था को ही कविता का मूल-मंत्र मानता था। पर छत्तीसगढ़ का यह युवा कवि अनास्था के बरक्स आस्था को नयी कविता का मुख्य स्वर मान रहा था। श्रीकांत के इस प्रस्थान को आज एक बार फिर समझने की ज़रूरत है।

इस आस्था के दो सूत्र हैं—श्रीकांत के पास, जिसको उन्होंने छत्तीसगढ़ की प्रकृति और मनुष्य से प्राप्त किया था। *भटका मेघ* की काव्यभूमि में प्रेम और प्रकृति की हरियर सुगंध चारों तरफ़ फैली हुई है। इन प्रकृतिमूलक कविताओं में छत्तीसगढ़ का पूरा कैनवास झाँकता है। वहाँ के पहाड़, नदियाँ, पोखर झुझकुर, पेड़, झाड़ियाँ, झरने, वनमुर्ग़ी, जंगल, पथरीली धरती, अथाह फैले जंगल, श्रमजीवी हाथ, उनके पसीने, उनके लहू, उनके उत्सर्ग, वहाँ की बहू और बेटियाँ, किसान और मज़दूर जैसे असंख्य चेहरे और स्मृतियाँ भरी पड़ी हैं। मैं नंदकिशोर नवल के इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हूँ कि "लेकिन यह परिवेश—वह प्रकृति का हो या मनुष्य का—उनकी कविताओं में सजीव रूप में तथा विस्तार से कभी चित्रित नहीं हुआ। वे तीक्ष्ण संवेदना के कवि नहीं थे।"[2]

इसके प्रमाण में इस संग्रह से कुछ प्रकृतिमूलक कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं—

---

1. *भटका मेघ* : प्रथम संस्करण 1957, भूमिका
2. *समकालीन काव्य यात्रा*, पृष्ठ 166

जब फागुनी हवा कहीं
भौंरों के गुच्छ हिला
ताल तलैया नरवा तीर पर टहलती है
फागुन के आँसू, शायद टेसू बन
वन-वन शाख पर सुलगते हैं

× × ×

जब एक किरन
गिर गुम हो जाती है
मेड़ों पर जल्दी-जल्दी
कोई छाया
आकुल दीख पड़ती है
दूर किसी जंगल से मंदरी यह आता है
धिंग...धिंग...था...धा धिंग धा
धाधिंग धा... धाधिंग धा
माँदल धमकाता है,
हौले-हौले घर आँगन में छा जाता है
इस सूने जीवन में बाँसुरी बजाता है
अह! इसकी वंशी सुन... ।

(फागुन-2)

शाम है धुआँ है एक नदी है
और इस नदी में
कुछ लहरें हैं
जो बहुत उदास हैं
अभी यहाँ पछुआ थी, एक गान था ।
अभी यहाँ आँसू थे और एक पाल था
अब सब चले गये...सब चले गये,

(शाम, धुआँ और नदी)

नदी रुक जाओ
वापिस आ जाओ
और अट्टहास करें; रातों को चौंकें !
आह! मुझे ढहा दो
मैं हूँ इस नदिया का बूढ़ा पुल

कब तक अपनी जड़ता बोहूँ
मुझको भी यात्रा में परिणत कर दो।
(बूढ़ा पुल)

क्या इन उद्धरणों में प्रकृति के सजीव रूप नहीं हैं? क्या यह विशुद्ध प्रकृति को नंगी बेलौस आँखों से देखने का यत्न नहीं? प्रकृति को विशुद्ध रूप से देखने के साथ-साथ इस संग्रह में प्रकृति के परिवेश में श्रीकांत ने प्रेम और सौन्दर्य की जो अप्रतिम कविताएँ लिखी हैं, वह समूची नयी कविता के दौर में विरल हैं। प्रेम और सौन्दर्य से पगी इन प्रेम कविताओं में किशोर प्रेम और युवा प्रेम का वयःसन्धि रूप इस तरह बद्धमूल है कि पाठक सहसा ठिठक जाता है। विशुद्ध प्रेम और सौन्दर्य की ऐसी आहट निराला में दिखती है या फिर शमशेर में।

गहरे अँधेरे में
मद्धिम आलोक का
वृत्त खींचती हुई
नंगी लालटेन-सी बैठी हो तुम
(जन्म दो सूर्य के लिए)

धूप से लिपटे हुए धुएँ सरीखे
केश सब लहरा रहे हैं
प्राण तेरे स्कंध पर !
यह नदी यह घाट, यह चढ़ती दुपहरी
सब तुम्हें पहिचानते हैं
× × ×
किसी टहनी पर कहीं यदि डबडबाये फूल
अधरों को छुला दे
बाँसुरी मेरी
उठाकर किन्हीं लहरों में सिरा दे
मुझे गा दे...मुझे गा दे
घाट हूँ मैं भी मगर
मुझको नदी छूती नहीं है!
सुबह से ही प्राण! तुम को जोहता हूँ
पूछता हूँ
झुझकुरों से उठ तुझे गोहराता हूँ
(अनपहचाना घाट)

मैं शामों का बूढ़ा पीपल
सुनो! धूप के अंतिम पन्ने बाँच रही
ओ नन्हीं चिड़िया
शाम तुम्हें उपमाविहीन कर, चुप चल देगी
जैसे मुझको एक धुएँ के धब्बे-सी
वह छोड़
हमेशा चल देती है।

(शाम का पीपल)

वह दुपहर जिसमें हम दोनों
बाँहों में बाँहें उलझाकर
डूब गये थे
जैसे दो ज्वारों से गुँथती नौकाएँ हो
क्या यह सम्भव नहीं
आज फिर वह दुपहर वापस आ जाए

(एक सम्बन्ध की पुनर्कामना)

तेरे कछार में अनेक पेड़ नीबू के
टपका के, महुआ के
इमली के आँक के
पर मुझको प्रिय लगता प्रिय तेरे
आँगन में भुनगे का एक पेड़

(खिन्न पेड़)

ज़ाहिर है, इन प्रेम कविताओं में बिडम्बना और विसंगति का वह रूप नहीं जो *माया दर्पण* की प्रेम कविताओं की मुख्य थीम है। इन प्रेम कविताओं का सबसे बड़ा गुण है—समर्पण। शायद इसी समर्पण भाव के कारण श्रीकांत के किशोर मन में प्रेम की गहरी विकलता है जहाँ सिर्फ़ प्रतीक्षा है। वयःसन्धि के दौर में प्रेम का जो सच्चा रूप सहज रूप से मन में होना चाहिए, श्रीकांत उसे बहुत ही तीक्ष्ण अनुभूति के साथ व्यक्त करते हैं। इसीलिए, श्रीकांत के इस छत्तीसगढ़ में लोक-जीवन की उपस्थिति अपने समग्र रूप में पूरी सजगता के साथ व्यक्त हुई है। यह सजगता कवि की आस्था है, और यह आस्था उसकी बड़ी पूँजी है। इस आस्था का सेतु श्रीकांत का छत्तीसगढ़ है, जिसको कवि पूरे साहस के साथ प्रकट करता कहता है—

इस नग्न शरीर पर मुकुट प्रतिष्ठा का
यदि कभी नहीं आया
तो कारण है
यह किसी शक्ति कुल के सिक्कों पर बिका नहीं।

(मुकुटहीन)

यह है—छत्तीसगढ़ अंचल के कवि श्रीकांत का आरम्भिक साहस, जो अपने आरम्भिक स्वरों के समर्पण में जन का आह्वान करता है—

डब डब अँधेरे में समय की नदी में
अपने-अपने दिये सिरा दो
शायद कोई दिया क्षितिज तक जा
सूरज बन जाए

(स्वरों का समर्पण)

4

बरस रहा है अन्धकार मगर...

श्रीकांत वर्मा की कविता का दूसरा दौर सन् '60 के आस-पास शुरू होता है। यह नयी कविता आन्दोलन के अवसान का समय है और युवा कविता आन्दोलन के उदय का। ग़ौर किया जाय तो श्रीकांत इस युवा कविता के प्रणेता हैं। उन्होंने अपने दूसरे दौर की कविता के जरिये भारतीय युवा स्वर और संवेदना को एक ओर व्यापकता दी तो दूसरी तरफ़ गहराई। उन्होंने सन् '60 के बाद की कविता की एक स्पष्ट और निजी पहचान बनाने के लिए प्रयत्न किया। तब उनके विचारों के नायक थे—डॉ. राममनोहर लोहिया, जिनसे श्रीकांत की पहली भेंट 1963 में होती है। श्रीकांत लोहिया के व्यक्तित्व और विचार से उसी तरह सम्मोहित हैं जैसे मुक्तिबोध से। नयी कविता के दौर में जिस तरह से सामाजिकता और राजनीतिक सरोकार ख़त्म हो रहे थे, उसमें श्रीकांत की कविता गहरा हस्तक्षेप उपस्थित करती है। 60 के बाद कविता में किसिम-किसिम के जितने भी आन्दोलन चले, उसकी धड़कनें श्रीकांत की कविताओं में मौजूद थीं। देखा जाय तो सातवें दशक की पूरी कविता के क्षितिज पर श्रीकांत वर्मा की कविताएँ छायी हुई हैं। आज जब कविता में सामाजिक सरोकारों को सबसे ज़्यादा महत्त्व दिया जा रहा है, श्रीकांत की कविताएँ हमें दुबारा पढ़ने के लिए आमन्त्रित करती हैं।

यह तथ्य बार-बार रेखांकित किया जाता है कि श्रीकांत मोहभंग के कवि हैं। देखना यह है कि श्रीकांत की कविता में आये मोहभंग के पीछे कौन-से कारण हैं जिसने *भटका मेघ* के इस आस्थावान कवि को चीख़ में बदल दिया। श्रीकांत सन् 60 के बाद की पीढ़ी के पहले ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने समय, समाज और राजनीति से सीधी मुठभेड़ की। वह समय था—नेहरू युग के अवसान का और डॉ. लोहिया के उदय का। नेहरू युग का अवसान आज़ादी से उपजे चरम मोहभंग से शुरू होता है। उस समय की राजनीतिक हलचलों पर ग़ौर किया जाय तो देश एक ख़ौफ़नाक दौर से गुज़र रहा था। सन् 62 का चीनी आक्रमण, चीनी आक्रमण के

साथ भारतीय साम्यवादी बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों की ख़ामोशी, सन् 61 और 64 में क्रमशः निराला और मुक्तिबोध जैसे महान् कवियों का अन्त, चीनी आक्रमण से हताश नेहरू की मौत, 65 में भारत पाक युद्ध, ताशकंद में शास्त्री जी की रहस्मय मौत, 67 में महान् समाजवादी विचारक और नेता डॉ. लोहिया की आकस्मिक मौत, देश भर में चरम महँगाई, चारों तरफ़ फैली अराजकता, बंगाल का अकाल, शिक्षा की निरर्थकता से घिरे युवकों का अनिश्चित भविष्य—ये तमाम स्थितियाँ एक के बाद एक घटित होती गयीं कि देश का जनमानस बौखला उठा। ख़ासतौर से सन् '42 के आन्दोलन में सक्रिय लोगों के सामने यह चौतरफ़ा मोहभंग था।

ऐसी सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि में श्रीकांत की कविता का दूसरा दौर शुरू होता है। *भटका मेघ* के कवि के भीतर छिड़े अन्तर्द्वन्द्व ने जैसे *मायादर्पण* में नयी कविता के सभी प्रतिमानों को उलट दिया। उस दौर में श्रीकांत अपने खरे नैतिक क्षोभ के साथ एक नाराज़ नवयुवक की मुद्रा अख़्तियार करके अपने तत्कालीन समाज, व्यवस्था की पूरी निर्ममता के साथ धज्जियाँ उड़ाते हैं। श्रीकांत के काव्य स्वर में गहरी हताशा के स्वर गूँजने लगते हैं। उस दौर के माहौल पर श्रीकांत की यह टिप्पणी ग़ौर तलब है : "यह सन् '60 की बात है। भारत में हम सबके भीतर चीन द्वारा पराजित होने की वजह से क्षोभ और शर्म व्याप्त थी। मैं नहीं सोचता कि इस मनःस्थिति को लेकर किसी के मन में कोई सन्देह था। सभी पराजित और हताश अनुभव कर रहे थे। ऐसे समय में मेरी कविता चीख़ बनकर बाहर निकली। लेकिन यह मेरी व्यक्तिगत निराशा और शर्म की कविता नहीं थी। क्योंकि कभी भी व्यक्तिगत दुखबोध की कविता एक अच्छी कविता का मानदण्ड नहीं हो सकती। वही कविता प्रामाणिक होगी जिसके सरोकार राष्ट्रीय दुखों से जुड़े होंगे।"[1]

श्रीकांत के दूसरे काव्य-संग्रह *माया दर्पण* की कविताओं को देखा जाय तो उसके सरोकार व्यापक स्तर पर इन राष्ट्रीय दुखों से जुड़े लगते हैं, जिसे व्यक्त करने से श्रीकांत वर्मा जूझ रहे थे। उनका पहला आत्म-संघर्ष ख़ुद छत्तीसगढ़ के छूटने से है, जहाँ वे अपने को अकेला और लहूलुहान पाते हैं। यह श्रीकांत की दिल्ली है—जिसने उन्हें बेघर कर दिया। बेघर होने की यह पीड़ा श्रीकांत के मन में शाप की तरह सालती है। जिससे वे बेचैन हो उठते हैं। मुक्तिबोध को दिल्ली से अपना हाल सुनाते हुए लिखते हैं, "मेरी हालत यहाँ बहुत ख़राब है। ...व्यक्तित्व की हड्डियाँ टूटी हुई हैं, हर रात जोड़ता हूँ, सँजोता हूँ और फिर एक काव्य-यात्रा पर निकलता हूँ।"[2]

मुक्तिबोध के ही नाम 13-2-63 के पत्र में वे फिर लिखते हैं, "जिन लोगों में से मैं आया हूँ, उन्हें भूला नहीं हूँ। अगर भूल गया होता तो कविता भी छूट

---

1. श्रीकांत वर्मा से साक्षात्कार : रचनावली-4, पृष्ठ 346
2. 24-2-58 को लिखा पत्र : श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृष्ठ 414

गयी होती। भौगोलिक और इसी तरह की दूरियाँ हैं। मगर जिन्हें एक बार अपना महसूस कर लिया वे मन के हमेशा पास होते हैं। मेरे लिए तो माँ-बाप और छत्तीसगढ़ के अपने दोस्त, परिचित और भी कीमती निधियाँ हैं क्योंकि फ़िलहाल उनकी स्मृतियाँ, उपकारों और दूरस्थ स्नेह के अलावा मेरे अपने जीवन में और कुछ नहीं जिनके बल पर जी सकूँ।

"मैं सोचता हूँ मेरी कविता और उसकी जड़ें अब भी वही हैं। केवल संकेत और इशारे बदल गये हैं।"[1]

मायादर्पण की कविताओं के सिलसिले में श्रीकांत के कवि की इस मनःस्थिति को समझना ज़रूरी है। इस पूरी मनःस्थिति को शब्द देती है उनकी बहुचर्चित कविता घर-घाम। घर वापसी के लिए बेताब इस कवि की बेचैनी देखने लायक़ है—

मैं अब हो गया हूँ निढाल
अर्थहीन कार्यों में
नष्ट कर दिये मैंने
साल पर साल न जाने कितने साल
और अब भी मैं नहीं जान पाया
है कहाँ मेरा योग ?
मैं अब घर जाना चाहता हूँ
मैं जंगलों पहाड़ों में खो जाना चाहता हूँ
मैं महुए के वन में
एक कंडे-सा सुलगना, गुगुवाना
धुँधुवाना चाहता हूँ
मैं उदास हो जाना चाहता हूँ
मैं जीना चाहता हूँ और जीवन को
भासमान करना चाहता हूँ

इस कविता की अन्तिम दो पंक्तियों पर ग़ौर किया जाय तो पता चलता है कि उनके कवि के सामने दो प्रश्न थे : जीने की इच्छा जो समस्या में बदल गयी थी और फिर उस जीवन को भासमान करना। देखा जाय तो ये दोनों अहम प्रश्न देश के हर युवा के सामने थे। श्रीकांत अपनी पीढ़ी के युवा के साथ खड़े थे। यह आज़ाद भारत के उस निम्न मध्यवर्गीय युवक का उदास और निढाल चेहरा है जो गाँव से चलकर शहर में अपना भविष्य आज़माने चला है।

---

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृष्ठ 434

श्रीकांत कविता के अन्त में घर लौटने की बात करते हैं। ऊपरी तौर पर एक संघर्षरत युवक के मुँह से ऐसी बात पलायन की कही जा सकती है। पर यह घर लौटना पलायन का नहीं, बल्कि जीवन-संघर्ष से जूझने के लिए आस्था को पाने की व्यथा है। यह आकस्मिक नहीं है। आज नौवें दशक में सातवें और आठवें दशक के अनेक कवि घर-वापसी की बात कर रहे हैं। कविता में घर-वापसी का अर्थ दरअसल लोक में लौटने की चाह है जिसे श्रीकांत 1959 में पकड़ने की कोशिश कर रहे थे।

मायादर्पण की केन्द्रीय थीम है—विद्रोह। यह विद्रोह श्रीकांत की इस काव्य यात्रा में बहुत गहरे स्तर पर घटित हुआ है। अपने साक्षात्कार में श्रीकांत कहते हैं कि "मैं अपने अतीत और हिन्दी साहित्य के अतीत दोनों को ही नेगेट करना चाहता था।"[1] हिन्दी साहित्य का यह अतीत पूरी आधुनिक कविता है। ख़ासतौर से नयी कविता की 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि' जिसे एक तरफ़ मुक्तिबोध तोड़ रहे थे तो दूसरी तरफ़ श्रीकांत। नन्दकिशोर नवल ने श्रीकांत के इस काव्य संघर्ष की तुलना छायावाद के भीतर संघर्षरत निराला से की है। जहाँ निराला जानकीवल्लभ शास्त्री को 1943 में लिखे पत्र में कहते हैं : "एक रोज़ दिल में आया जो कुछ पद्य साहित्य में लिखा है उसका उलटा लिख डालूँ; नवल की टिप्पणी है, "निराला का मोहभंग छायावादी कविता से शुरू होता है, श्रीकांत का नयी कविता से। निराला भी द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में एक तरफ़ अपने व्यक्तिगत जीवन से परेशान थे और दूसरी तरफ़ अपने सामाजिक जीवन से, श्रीकांत भी एक तरफ़ अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से घिरे हुए थे, दूसरी तरफ़ सामाजिक राष्ट्रीय जीवन में बढ़ती हुई बेकारी, भ्रष्टाचार और अनैतिकता के रूप में भारतीय स्वाधीनता की परिणति देखकर स्तब्ध थे।"[2]

इस स्तब्धता ने ही श्रीकांत के युवा मन को विद्रोही बनाया। फलतः उनके स्वर में एक ओर क्षोभ, असंतुलन और गुस्से की प्रतिक्रिया हुई, तो दूसरी तरफ़ निराशा, कुण्ठा और मानवीय करुणा की एक ऐसी गहरी आवाज़ पैदा हुई जो आधुनिक कविता के इतिहास में सिर्फ़ निराला ने ही पैदा की थी। हालाँकि श्रीकांत के निजी स्वर को कुछ आलोचकों ने उनका व्यक्तिगत 'सिनिसिज़्म' कहा। फलतः हिन्दी के पाठकों के बीच *मायादर्पण* के कवि की छवि एक सिनिक के रूप में पेश की जाने लगी। उस दौर की अपनी हालत का बयान करते हुए श्रीकांत धर्मवीर भारती के नाम लिखे पत्र में कहते हैं : "1956 में दिल्ली आया तो थोड़े ही दिनों बाद रोटी के लाले पड़ गये। यही क्या कम था कि कुछ और निजी समस्याएँ उत्पन्न

---

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृष्ठ 314
2. *समकालीन काव्य यात्रा*, पृष्ठ 171

हो गयीं। छह-सात वर्ष वस्तुतः भूखों रहा। 1964 में मरता क्या न करता वाली स्थिति में *दिनमान* चला गया। यह मेरी सबसे बड़ी ग़लती थी। वात्स्यायन जी और उनके नौ रत्नों ने न सिर्फ़ ज़लील किया बल्कि गला दबोचा—लगभग मार ही डाला। बेहोशी की हालत में वामपंथी भूखे भेड़ियों के आगे फेंक दिया। उन्होंने मेरे साथ जो सलूक किया, उसका इतिहास तो पिछले 15 वर्षों की पत्र-पत्रिकाओं के पन्नों में बिखरा पड़ा है।"[1]

सवाल उठता है, श्रीकांत का यह विद्रोह क्या उनका व्यक्तिगत 'सिनिसिज़्म' था? या समाज और राजनीति के विरुद्ध एक तीव्र युवा प्रतिकार था? इस मुद्दे पर *मायादर्पण* की उन कविताओं पर एक बार फिर विचार करने की ज़रूरत है जिनके आधार पर श्रीकांत की छवि एक सिनिक कवि के रूप में पेश की गयी। श्रीकांत के इस बढ़ते 'सिनिसिज़्म' की चिन्ता मुक्तिबोध को अखरती है। श्रीकांत इसका जवाब देते हुए मुक्तिबोध को लिखते हैं "देश को खोकर ही मैंने प्राप्त की है यह कविता वाली पंक्ति। असल में एक प्रतिक्रिया मात्र है। उस अंधभक्ति का जिसके कवच में छटपटाकर हमारी हिन्दी कविता मर रही है, ख़ासकर पिछले साल दो साल में ऐसी सैकड़ों कविताएँ आपने देखी होंगी।

आपकी यह बात बिल्कुल सही है कि मैंने इन दिनों जो कविताएँ लिखी हैं उनमें बढ़ता हुआ सिनिसिज़्म है। बल्कि मैं ख़ुद भी महसूस करने लगा हूँ कि इसकी झलक मेरे विचारों और लेखों में भी है। और कविता में यह जो भी ख़ूबसूरती पैदा करे, इतिहास के प्रति एक संगत और तटस्थ दृष्टिकोण में सहायक नहीं हो सकता। ...मैं अब भी एक वामपक्षी समाजवादी समाज में विश्वास करता हूँ (और करूँगा) क्योंकि मनुष्यता के लिए एक मात्र रास्ता यही है। मगर जिस तरह का अवसरवाद हमारे सामाजिक जीवन में भीतर-ही-भीतर पनप रहा है उससे वामपक्ष भी बरी नहीं है। बल्कि अगर विचारधारा को छोड़ दिया जाय तो व्यवहार और कर्म से वाम और दक्षिण में कोई अन्तर नहीं रह गया है।"[2]

इस स्वीकारोक्ति से साफ़ ज़ाहिर है कि श्रीकांत के सामने चौतरफ़ा अँधेरा था। निजी जीवन की असुरक्षा समाज और राजनीति में मूल्यों का पतन, विचारधाराओं के अन्तर्विरोध और नयी कविता का जड़ समाजशास्त्र। इनके बीच श्रीकांत के संवेदनशील युवा कवि मन पर ज़माने के इतने तीक्ष्ण कशाघात पड़ते हैं कि वे हिलकर कराहने लगते हैं। इसलिए *मायादर्पण* की कविताओं में जो संशय, मृत्यु, निराशा और करुणा की अजस्र भावधारा है वह एक युवा कवि की

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृष्ठ 47।
2. श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृष्ठ 434-35

आत्म-स्वीकृति है। *मायादर्पण* जैसी लम्बी कविता में एक नाराज़ युवा मन की अनगिन कोणों से खिंची छवियाँ 'सिनिसिज़्म' के बावज़ूद पाठकों को वास्तविक उद्‌गार लगती हैं—

मैं इन दिनों और रातों का क्या करूँ ?
मैं अपने दिनों और रातों का क्या करूँ ?
मैं क्या करूँ ? क्या जीने की कोशिश में
किसी और दुनिया में जा मरूँ ?

(मायादर्पण)

मायादर्पण और *दिनारम्भ* में कवि की यह उहापोह काफ़ी भयावह है। कवि के संसार में निराशा की चादर इतनी लम्बी-चौड़ी फैली हुई है कि वह कहीं उससे बाहर नहीं निकल पाता। यह आज़ाद भारत के उस निराश युवक की छवि है जिसके पास पाने के लिए सब कुछ है, खोने के लिए कुछ भी नहीं। वह मानता है कि इसका कारण वह स्वयं है। वह जो कुछ है अपनी करतूतों के कारण। जैसे सार्त्र कहता है—'मनुष्य अपनी नियति ख़ुद चुनता है'—

मैं अपनी करतूतों का दारोग़ा हूँ
नहीं रोज़नामचा हूँ
मुझमें मेरे अपराध
हूबहू कविताओं में दर्ज़ हैं
मर्ज हैं जितने
उससे ज़्यादा इलाज़ हैं

(मायादर्पण)

श्रीकांत की इन कविताओं की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है—अनुभूति की वह ईमानदारी जो अत्यंत जीवंत होकर कविताओं में व्यक्त होती है। कवि दूसरों पर अभियोग लगाने की बजाय स्वयं पर अभियोग लगाता है। वह दूसरों को दोषी ठहराने के बजाय स्वयं पर दोष मढ़ता है। कवि में आत्मस्वीकार और आत्माभियोग का यह भाव मायादर्पण से लेकर मगध तक वर्तमान है। लेकिन आत्मस्वीकार का यह भाव उसकी कविता को ज़्यादा प्रामाणिक, सार्थक और अर्थवान बनाता है। हिन्दी कविता में ग़ौर किया जाय तो स्वयं पर अभियोग लगाने का यह भावबोध अत्यंत दुर्लभ है। छायावाद में अगर निराला में यह भावबोध प्रबल है तो नयी कविता में मुक्तिबोध और 60 के बाद की कविता में श्रीकांत वर्मा। इन तीनों कवियों में आत्मस्वीकार के भाव इतने जीवन्त रूप में कविता के भीतर समाहित हैं कि बहुत मुश्किल है—कविता से कवि को अलग कर पाना।

श्रीकांत वर्मा की विशेषता यह है कि कविता में वे अपने विरुद्ध न केवल अभियोग लगाते हैं बल्कि उसे आगे बढ़कर स्वीकार करते हैं। ख़ासतौर से वे कविता के भीतर जो फ़ैसले देते हैं वह प्रायः उनके 'मैं' के ख़िलाफ़ हो जाता है। कहीं-कहीं कविता के भीतर 'मैं' को पीड़ा देनेवाली यह स्थितियाँ करुणा में ढलकर पाठक को अभिभूत कर देती हैं, जो आत्मप्रपीड़न की हद लगती हैं। पाठक यह नहीं समझ पाता कि एक आदमी स्वयं को पीड़ा देकर आख़िर क्या पा सकता है—

मैं अपनी मार खायी हुई
पीठ / सेंक सकता हूँ / धूप में
बेटियाँ और बहुएँ / सूप में
अपनी-अपनी आयु के दाने
बीन / रही / हैं।

(मायादर्पण)

अशोक वाजपेयी ने सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान रखकर यह बात कही कि "यदि कविता की अदालत होती तो अपने किये गये जुर्म को कुबूल करके श्रीकांत वर्मा की कविताएँ स्वयं के ख़िलाफ़ जिरह करतीं। इन अर्थों में श्रीकांत वर्मा की कविताएँ स्वयं के ख़िलाफ़ चलाया गया मुक़दमा लगती हैं।"[1]

मायादर्पण की कविताओं के संसार पर ग़ौर किया जाय तो उसमें मनुष्य के उन तमाम रिश्तों को पकड़ने की कोशिश झलकती है जिनसे कवि जीवन में चौतरफ़ा जूझ रहा है। जैसे मनुष्य और समाज का रिश्ता, समाज और राजनीति का रिश्ता, स्त्री और उससे उपजे प्रेम का रिश्ता और इन सबके बीच व्यक्ति के अपने अकेलेपन की नियति का रिश्ता। श्रीकांत इन सारे रिश्तों को बहुत तिलमिलाहट के साथ अभिव्यक्ति देते हैं। इस अकेले मन में कवि के साथ सच्चा साथी है अवसाद—

रोज़ शाम कोई द्वार खटखटाता है
द्वार खोलता हूँ, देखता हूँ अवसाद
शीश झुकाये हुए
कमरे में चुपचाप चला आता है।

(कमरे का साथी)

उल्लेखनीय है कि इन कविताओं का परिवेश महानगरीय जीवन है, जिसमें ऊब, अकेलापन, भय, आशंका, प्रेम की विकलता और उसकी विफलता का दंश भरा हुआ है। कवि इन सारी मनःस्थितियों, उसके द्वन्द्वों और तनावों को शब्द देता

---

1. श्रीकांत वर्मा प्रसंग : बिलासपुर में दिया गया वक्तव्य : 1985

है। इसलिए इन कविताओं में मोहभंग के साथ चीख़ और गुस्से का स्वर बहुत ज़्यादा है। देखने में ये कविताएँ बहुत हड़बड़ी में लिखी गयी लगती हैं। पर यह हड़बड़ी अभिव्यक्ति की उतनी नहीं है जितनी काव्यानुभूति के दवाव की। श्रीकांत की यह आक्रामकता देखने लायक़ है—

मगर ख़बरदार/मुझे कवि मत कहो
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ/गाली
फिर उसे बुदबुदाता हूँ
(मायादर्पण)

यानी उसकी आक्रामक कविताएँ गाली को बुदबुदाने का नुस्ख़ा हैं। इस नुस्ख़े को कवि ने नक़ली कवियों की वसुन्धरा, मायादर्पण, जीवन बीमा, प्रेस वक्तव्य, समाधिलेख, टोटूक रास्ता, बुख़ार में कविता, अन्तिम वक्तव्य, एक स्वदेशी का प्रतिशोध, टूटी पड़ी है परम्परा, जैसी कविताओं में भरपूर आज़माने की कोशिश की है। इन कविताओं में कवि का 'वायरलेंस' इतना मुखर है कि पाठक अचम्भित हो जाता है। शायद इन्हीं कविताओं के चलते श्रीकांत के आलोचकों ने उन्हें 'बुख़ार का कवि' कहा।

पर इस बुख़ार के पीछे कवि की जो अन्तहीन बेचैनी, द्वन्द्व और तनाव की अनुभूतियाँ हैं उन पर विचार करने की ज़रूरत नहीं समझी गयी। कवि ने अगर यह कहा कि—

बरस रहा है अन्धकार
मगर उल्लू के पट्ठे
स्त्रियाँ रिझाऊ कविताएँ लिख रहे हैं
(नक़ली कवियों की वसुन्धरा)

तो इसके पीछे कवि की रोमैण्टिकता से छुटकारा पाने की बौख़लाहट है। श्रीकांत के कविकर्म में 'रोमैण्टिक' से 'एण्टीरोमैण्टिक' मुद्रा अख़्तियार करने का यह वह दौर है जहाँ से वे सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ की लड़ाई लड़ना आरम्भ करते हैं। वे जब कहते हैं—

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर बेचेंगे क्रांति की (अथवा षड्यन्त्र की)
कुछ लोग सारा समय
क़समें खायेंगे
लोकतन्त्र की

मुझसे नहीं होगा
जो मुझसे नहीं हुआ वह मेरा
संसार नहीं
(समाधि लेख)

कवि के सामने यह प्रश्न दरअसल पूरी युवा पीढ़ी का प्रश्न है—

मैं बिना
शहीद हुए भी
मर सकता हूँ
यह मेरा सवाल नहीं है
बल्कि उत्तर है :
मैं क्या कर सकता हूँ
(समाधि लेख)

हालाँकि कवि ने इसे युवा पीढ़ी का उत्तर कहा है, पर यह एक प्रश्न है और यह प्रश्न श्रीकांत के दूसरे दौर की कविता का सबसे बड़ा प्रश्न है। यह प्रश्न व्यवस्था, समाज, राजनीति और मनुष्य से है, जिसको शब्दबद्ध करती श्रीकांत की कविताएँ बेचैन टहलती हैं। शायद इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अशोक वाजपेयी ने *मायादर्पण* की कविताओं के संसार को समकालीन नरक का भूगोल कहा था और स्पष्ट कहा था "अगर यह धारणा बन गयी हो कि श्रीकांत वर्मा सिर्फ़ नरक, दहशत और व्यंग्य के कवि भर हैं तो उसे अब सुधारना जरूरी है।"[1] जबकि मलयज ने इसे खण्ड-खण्ड की सर्जनात्मकता सिद्ध करते हुए कहा था कि "श्रीकांत का विरोध 'बाहर' के प्रति उतना नहीं जितना भीतर के प्रति है—क्योंकि वहीं बिना रुके, बिना किसी निर्णायक बिन्दु पर पहुँचे बार-बार प्रहार किया जा सकता है। उनके 'भीतर' एक ऐसा दर्पण है जिसमें 'बाहर' के चेहरे और आकृतियाँ आधुनिक युग संवेदना का मुखौटा लगाये हुए ज़रूर घूमती नज़र आती हैं। पर अन्ततः वह दर्पण *मायादर्पण* ही साबित होता है क्योंकि उन मुखौटों को उघाड़े जाने की बेबाक क्रिया आज नगर संस्कृति में एक आधुनिक मनुष्य की विडम्बना को अनावृत करती है और इसी अर्थ में श्रीकांत का वैयक्तिक काव्य संसार समसामयिक संवेदना का भी संसार बन गया है।"[2]

नामवर सिंह ने *मायादर्पण* के काव्य संसार का मुआयना करते हुए सटीक कहा है कि "इस काव्य संसार पर दृष्टि जाते ही जो बात सबसे पहले दिखाई पड़ती है

1. *श्रीकांत वर्मा का रचना संसार*, पृष्ठ 41
2. वही, पृ. 31

वह है इस संसार की भास्वरता : विविडनेस : गिनी-चुनी विरल रेखाओं के द्वारा ही कवि ने एक जीता-जागता, भरा-पूरा, आर-पार, पारदर्शी संसार खड़ा कर दिया है।"[1]

मायादर्पण की अपेक्षा *दिनारम्भ* की कविताएँ मलयज के शब्दों में कहा जाय तो खण्ड-खण्ड की सर्जनात्मक छवियाँ ज़्यादा लगती हैं। चूँकि इस संग्रह का प्रकाशन काल भी *मायादर्पण* का है, इसलिए इस संग्रह की अलग से ज़्यादा चर्चा नहीं हो पायी। इसका दूसरा कारण यह भी है कि इन कविताओं में विचार की जगह भावचित्र ज्यादा उभरे हैं। पर इनकी भावभूमि भी *मायादर्पण* जैसी है। फ़र्क़ इतना है कि पहले कवि शब्दों को काग़ज़ पर छींट देता था, *दिनारम्भ* में कवि अभिव्यक्ति में संयम से काम लेता है। अपनी कोमल और आहत भावनाओं को बहुत महीन संवेदना में मितकथन के साथ कहता है—

मैं सबसे नीचे हूँ, मैं कन्धों पर अपने
लोगों की कराह सुनता हूँ
पृथ्वी भर में
फूल नहीं आँसू चुनता हूँ

(पृथ्वी भर में)

मैं एक भागता हुआ दिन हूँ
या रुकती हुई रात ?
मैं नहीं जानता हूँ—
मैं ढूँढ़ रहा हूँ अपनी साँझ या ढूँढ़ रहा हूँ
अपना प्रातः
मैं
अपनी पीठ पर
अपनी ही क़ब्र के
पत्थर-सा
ढोता
सं-सा-र

(स्मारक)

पर इन छोटी कविताओं में सबसे समृद्ध है—प्रकृति। लगता है छत्तीसगढ़ की जो प्रकृति और वहाँ के लोकजीवन की स्मृति कवि के मन में शेष बची थी, उसे कवि इन बुख़ार कविताओं के बीच उतार कर राहत पाता है। इन छोटी कविताओं

---

1. *कविता के नये प्रतिमान* : नामवर सिंह

की प्रकृति उसी तरह झलकती है जैसे—अन्धकार के बीच सहसा झँझरियों से आता प्रकाश।

नदी पर झुकी हुई डाल की छाया
प्यासा एक मृग
पानी पीने को आया
(नदी पर डाल)

नदी के किनारे कोई आसमान धो रहा है
दुपहर है
महुए का पेड़ सो रहा है
(दुपहर)

सबने देखी, कच्ची मटियायी दूधभरी मूँगफली
किसी ने नहीं
केवल तूने ही
ओ मेरी साँवरी
तू ही बो आयी थी—
तूने ही देखा ; पृथ्वी की नाक में झूलता
बुलाक-धन
(स्वधन)

इन छोटी कविताओं में कहीं-कहीं माँ, पिता, भाई, बहन की स्मृतियाँ भी कौंधती हैं। माँ की आँखें कविता में 'माँ की किसान आँखें' कितनी मार्मिक और सपनीली हैं—

मेरी माँ की डबडब आँखें
मुझे देखतीं यों
जलती फ़सलें कटती शाख़ें
मेरी माँ की किसान आँखें
मेरी माँ की खोयी आँखें
मुझे देखती हैं यों
शाम घिरे नगरों को
फैलाकर पाँखें
मेरी माँ की उदास आँखें
(माँ की आँखें)

आँगन के कोने में दुखी-सी खड़ी हुई छरहरी
गुल चाँदनी

(बहिन का चित्र)

शायद छोटी कविताओं के इतिहास में *दिनारम्भ* हाइकू शैली की कविता का निर्वाह है। लेकिन इन छोटी कविताओं में श्रीकांत अपनी सघन मार्मिक अनुभूतियों को बहुत सूत्र रूप में रखना चाहते थे। कहना न होगा, ये छोटी कविताएँ उनकी लम्बी काव्य-यात्रा में पानी में सहसा उछली मछली की तरह हैं। जो फिर आगे नहीं दिखीं।

इस तरह हम देखते हैं *मायादर्पण* और *दिनारम्भ* श्रीकांत वर्मा के कवि-कर्म का वह दूसरा निर्णायक पड़ाव है जहाँ उन्होंने अपनी कविता का एक सर्वथा निजी मुहावरा गढ़ा। एक नयी काव्य-भाषा गढ़ी। नामवर सिंह की यह टिप्पणी सटीक लगती है, "उन्होंने नक़ली कवियों की वसुन्धरा में अपना मुहावरा बनाया। इस मुहावरे को हासिल करने में उन्होंने वर्षों लगाये थे। मृत्यु और सत्ता इसे मिटा नहीं सकती।"

श्रीकांत वर्मा ने खुद कहा था : "यदि मैं कलाकार न होता तो इन कविताओं को गालियों, सम्बोधनों, लांछनों, कटूक्तियों, तानों और व्यंग्य-बाणों के रूप में व्यक्त करता।" कहना न होगा, सातवें दशक के दौर में नयी कविता के इस आख़िरी नाराज़ कवि ने धूमिल, जगूड़ी समेत दर्जनों कवियों को अपनी राह पर चलने के लिए विवश किया। श्रीकांत के कवि-कर्म की यह अद्वितीयता, युवा कविता के इतिहास में आज एक अविस्मरणीय अध्याय है।

5

प्रेम अकेले होने का एक ढंग

यूँ तो श्रीकांत सामाजिक हस्तक्षेप, दुःख, अवसाद और महान् मानवीय संवेदना के कवि हैं, यह भावबोध *भटका मेघ* से *गरुड़ किसने देखा है* तक वर्तमान है। पर ग़ौर से देखा जाय तो वे दुःख और करुणा के साथ प्रेम के भी एक दुर्लभ कवि हैं। दुर्भाग्यवश उनकी प्रेम संवेदना को भी लोगों ने निषेध की ही एक आसन्न मुद्रा मान लिया। पर वे पारम्परिक प्रेम या विशुद्ध प्रेम के कवि नहीं हैं। यद्यपि उनकी प्रारम्भिक कविताएँ विशुद्ध प्रेम की ही शुरुआत हैं जिनमें छत्तीसगढ़ का कस्बाईबोध रचा-बसा है। ध्यान दिया जाय तो कस्बाईबोध की उनकी प्रेम कविताओं में प्रेम की एक सहज, सरल दुनिया है, जहाँ प्रेयसी है या फिर उसकी अनुपस्थिति है। इसीलिए उन कविताओं में प्रतीक्षा का भावबोध सबसे प्रबल है। मैंने उस दौर की प्रेम कविताओं की चर्चा करते हुए कहा था कि वे वयःसन्धि प्रेम संवेदना की कविताएँ हैं, जिनमें किशोर जीवन का कच्चा रोमांस मुखरित होता है। श्रीकांत ने कुछ बहुत अच्छे प्रेम गीत लिखे थे। साँझ : फिर आना मीत उनका एक बहुत चर्चित प्रेमगीत सिद्ध हुआ था। तब कवि के लिए प्रेयसी कितना टीसती थी—

घाट हूँ मैं भी मगर
मुझको नदी छूती नहीं है
सुबह से ही प्राण तुमको जोहता हूँ।
(अनपहचाना घाट)

- - - -

प्रिय मुझको अपनी खपरैल पर बटोर ले
मुझको झकझोर ले
कभी-कभी दुपहर में तिर जाती है—कराह
(खिन्न पेड़)

उसे देखने के लिए वह किस तरह तरसता था। उसे पाने की तब उसमें कितनी बेचैनी थी—

तुझमें देखता हूँ मैं नींद की झँझरियाँ हटाकर
कैसे झाँकता है वह
सुगबुगा उजास!
कैसे छिटक तुझसे चला जाता है बुझने को दिन
कैसे तू डेहरी पर
बैठी रहती है उदास
× × ×
तुझको देखता हूँ मैं
चीर-चीरकर अपने
जाले और धुन्ध और अपना आसपास
किन्तु तूने कभी जाना नहीं
मैं ही हूँ
तेरे आँगन में रात-रात भर
टप, टप-टप, टप चूने वाला
पारिजात

(तुझमें देखता हूँ मैं)

तब कवि प्रेयसी के लिए पारिजात प्रेमी था जो झरने की प्रतीक्षा करता था। उसकी अकुलाहट, विभ्रम और संशय में प्रेम जैसे अकेले मुक्ति का द्वार था। तब प्रेमिका के बारे में कवि की अवधारणा थी—

फैले हुए समय में
सिमटे हुए समय तक
एक सनातन लय-सी
मुझको ले जाती है
एक अकेलापन ले
मुझसे
एक अकेलापन वह
मुझसे दे जाती है

(प्रेमिका)

उन दिनों श्रीकांत ने प्रेम की एक विलक्षण कविता 'इन्हीं दिनों' लिखी थी। ज़ाहिर है इसमें छत्तीसगढ़ की स्मृतियाँ हैं। पर ये स्मृतियाँ कितनी सहज और मर्मस्पर्शी हैं। प्रेम कविताओं की दुनिया में इसका हिसाब लगाना कठिन है—

इन्हीं दिनों आयी थी
इन्हीं दिनों/ कनखी से उसने
एक बसन्ती दिवस हँसा था
इन्हीं दिनों
काया से अपनी, बाहर आ वह
मुझमें घुलती हुई छाँह-सी
चली गयी थी।
इन्हीं दिनों/ मुझको उसने
मूर्छा के बदले मूर्छा दी थी।
इन्हीं दिनों मुझको उसने
आकाश सरीखा ओढ़ लिया था
× × ×
इन्हीं दिनों/कनखी से उसने
एक बसन्ती दिवस हँसा था।

(इन्हीं दिनों)

1960 में दिल्ली के जीवन में लिखी गयी यह प्रेम की नास्टेल्जिया है। प्रेम का अतीत राग जो रन्ध्र-रन्ध्र को सम्मोहित करता है। यह कवि के किशोर-युवा प्रेम का चेहरा है। सम्मोहित, मूर्छित और आलम्बन के सामने बिछता हुआ। यह अतीत राग उसे घरधाम कविता में भी याद है—

मैं विवाह करना चाहता हूँ
और/ उसे प्यार/ करना चाहता हूँ
मैं उसका पति/ उसका प्रेमी
और उसका सर्वस्व
उसे देना चाहता हूँ
और/उसकी गोद/ भरना चाहता हूँ।
...मैं अब घर/ जाना चाहता हूँ

(घर धाम)

लेकिन *मायादर्पण* के शहर दिल्ली पहुँचते ही श्रीकांत का वह निश्छल प्रेम जैसे प्रेमरोग में बदल जाता है। कस्बाई प्रेम श्रीकांत के जीवन में परास्त होता है। शहराती प्रेम का बुख़ार जैसे उसके सहज प्रेम संसार को उजाड़ देता है। प्रेम संवेदना में आये इस बदलाव का जायज़ा लिया जाय तो कहा जा सकता है कि श्रीकांत की प्रेम कविताओं में जैसे कोई असंभाव्य दुर्घटना घट गयी हो। सन् 60 के बाद श्रीकांत ने शायद ही प्रेम की उस ज़मीन पर कोई कविता लिखी हो जो छत्तीसगढ़ में सम्भव हुई थी।

ऐसा लगता है अपने परिवेश में चतुर्दिक् छाये मोहभंग में जैसे कवि का प्रेम से भी मोहभंग हो गया है। सन् 60 के बाद जो प्रेम कविताएँ कवि ने लिखी हैं, उनमें प्रेम से मोहभंग की गूँज उठती है। विशुद्ध प्रेम की कविता एक सिरे से ग़ायब है। अपनी उत्तरवर्ती प्रेम कविताओं में श्रीकांत जैसे विफल प्रेम की गाथा लिख रहे थे। प्रेम की आगार स्त्री से उनका विश्वास उठ गया प्रतीत होता है। ऐसा क्यों है कि उनकी कविता में, जहाँ प्रेम के लिए जगह है पर स्त्री के लिए जगह नहीं है। यानी स्त्रियाँ कविताओं, उस दौर की कहानियों और उपन्यास *दूसरी बार* में मौज़ूद हैं पर रचनाकार उन्हें प्रेम या सहानुभूति नहीं दे पाता बल्कि उनसे बराबर बदला लेने का भाव रखता है।

क्या यह मान लिया जाय कि प्रेम की विफलता और जीवन की कठिन मारों के बीच श्रीकांत ने प्रेम को देश निकाला दे दिया और स्त्री को अपनी स्मृति से आजीवन कारावास। लोहिया की समाजवादी पृष्ठभूमि में विचारों की साँस लेने वाले श्रीकांत के वैचारिक व्योम में स्त्री को वह स्वतन्त्रता और प्रेम करने की इच्छा हासिल क्यों नहीं है—जिसके पैरोकार स्वयं श्रीकांत हैं? ज़ाहिर है इन सवालों का जवाब श्रीकांत की उत्तरवर्ती प्रेम कविताएँ नहीं देतीं, बल्कि प्रेम की आगार स्त्री से ज़बरिया प्रेम करने की शह चाहती हैं। ख़ासतौर से इन कविताओं में स्त्री की छवि एक उपभोक्ता समाज की वस्तु लगती है। *मायादर्पण* में ऐसी छवियाँ भरी पड़ी हैं। क्या 'स्त्रियाँ रिझाऊ' कविताएँ लिखने वाले कवियों के विरुद्ध वक्तव्य देने वाले श्रीकांत अपनी कविताओं में इन उदाहरणों से स्त्री-विरोधी नहीं ठहरते?

बरस रहा है अन्धकार
मगर वेश्याई स्वर्ग में
फोड़ों की तरह
उत्सव फूट रहे हैं
× × ×
कवियों की झूठ में लिपटी हुई

वेश्या माँ
अपनी सन्तानों का स्वर्ग देख रही है
(नक़ली कवियों की वसुन्धरा)

क्या मैं एक स्त्री के लिए
नक़ली तमंचा लिये
बिस्तर पर लूँगा/ अवतार ?
क्या मैं उसी स्त्री से
फिर से रचाऊँगा
विवाह ?

वह स्त्री/जो छोड़कर चली गयी
जानती थी
मैं उसके बदन में छिपाये हुए
मुँह/ एक शुतुरमुर्ग़नुमा
ठट्ठर/ हो गया हूँ
(एक दिन)

बन्द करो/कपड़ा बुनने वाली मिल!
टाँग दो शो विण्डो में दाग़ों से भरा/पेटीकोट

मेरा विवाह किसी स्त्री से नहीं
बल्कि/ हुआ था
ज़माने की पसंद से
पत्नी मिली है/ दहेज में
अनुभव करता हूँ मैं
अपने को पुरुष/ केवल एक बार/ सेज में
(जीवन बीमा)

टाँगें फैलाती हैं रंडियाँ
धनी रोज़गार।
सावधान ! फैल रहा है/ संसार!!
क्या मैं पड़ा रहूँ अपनी स्त्री की जाँघ की
दराज में ?

मेरी स्त्री/ फूँक-फूँक/ पीती है चाय
(जीवन बीमा)

क्या मैं बागडोर दे दूँ
वेश्याओं के हाथ में ?
(हेर फेर)

स्त्रियाँ/ सुडौल/ जंघाओं पर/बिठाती हैं
पुरुषों को
(चौथा शहर)

स्त्री के साथ एक खाट में ?
नावें कई यात्रियों को/ उतार कर
वेश्याओं की तरह
थकी पड़ी हैं घाट में
(बुख़ार में कविता)

विधवाएँ बुड़बुड़ाती हैं
रँडापे पर
तरस खाती हैं/बुढ़ापे पर
नौजवान स्त्रियाँ
गली में ताक-झाँक करती हैं
(बुख़ार में कविता)

मैं एक ग़लत बीवी का नेपोलियन था
(एक मुर्दे का बयान)

जाँघें/ छिलने को/ बेसब्र
वक्ष/ कुचले जाने को/ बेचैन
सेज/ मैली होने के लिए/साफ़
(मत्स्य वेध)

ये सभी उद्धरण *मायादर्पण* से हैं। देखना यह है कि कवि स्त्री समाज को किस दर्पण से देख रहा है। ज़ाहिर है कि यह स्त्री छवि का शोषण है। वेश्याएँ थकी हुई नावें हो सकती हैं। पर क्या इस चेहरे से स्त्री की मुक्ति सम्भव है? ऐसा लगता है अपने व्यक्तिगत प्रेम के 'सिनिसिज़्म' में कवि ने सारी स्त्रियों से बदला लेने का

जैसे प्रण ठान लिया है। डॉ. लोहिया ने भारतीय स्त्री को दलित की कोटि में रक्खा था। अपनी कविता में सामाजिक मुक्ति का स्वप्न देखने वाले श्रीकांत का स्त्री समाज के बारे में यह दृष्टिकोण न केवल बदला लेने वाला है बल्कि हिंसक, सामंती और पूँजीवादी है, जहाँ स्त्री सिर्फ़ पुरुष के उपभोग की प्रतीक्षा के लिए बनी है। अगर कवि इसे भारतीय समाज की स्त्री का यथार्थ चेहरा मानता है तो यह दृष्टि स्त्री के पक्ष में नहीं बल्कि विरोध में है। जो विशुद्ध अकवितावादी है। यह दूसरी बात है कि श्रीकांत ने ख़ुद अकविता की धज्जियाँ उड़ायी थीं।

इन कविताओं के आधार पर अगर रामविलास शर्मा ने श्रीकांत वर्मा को 'बीभत्स विशेषज्ञ' की संज्ञा देकर उनके सम्पूर्ण काव्य अवदान को रद्द कर दिया तो यह एक ओर श्रीकांत के कवि कर्म के प्रति एक आलोचक की ज़्यादती कही जा सकती है। पर स्त्री के बारे उस सामन्ती नज़रिये का जवाब श्रीकांत की कविताएँ कैसे दे सकती हैं, जहाँ स्त्री को न प्रेम करने की आज़ादी है और न यथास्थिति में ही सही जीने की स्वतन्त्रता। ख़ासतौर से अनेक कविताओं में आये स्त्री-पुरुष प्रसंगों को देखकर लगता है जैसे स्त्री सिर्फ़ पेटीकोट खोलने के लिए बनी है और पुरुष अपना नेकर। ऐसे प्रसंगों में श्रीकांत का वह मानवीय चेहरा नहीं झलकता जहाँ समानता के आधार पर स्त्री पुरुष की बग़ल में बैठ सके। वह सिर्फ़ बिस्तरबन्द की तरह बन्द होती और खुलती है।

श्रीकांत वर्मा की प्रेम कविताओं का जायज़ा लिया जाय तो वहाँ महानगरीय जीवन का बुख़ार छाया हुआ है। इस बुख़ार में प्रेम की नियति है—खोना, यानी अकेला होना। इन प्रेम कविताओं की केन्द्रीय थीम है—विफलता। प्रेम की इस विफलता से कवि इतना आहत है कि उसे 'वह' हमेशा संशय की तरह लगती है। शायद अजनबी-सी। प्रेम की विफलता का यह दंश उसे किस तरह सालता है, यह देखने योग्य है—

> *वह एक उठे हुए पाल की तरह मुझे*
> *चीरती चली आ रही है*
> *मैं हूँ आकाश ! मैं*
> *कैसे सिमटूँ मैं कैसे बाँधूँ ?*
> *वह मुझमें से होकर चली जा रही है*
> (मैं कैसे बाँधूँ ?)

इस प्रेम में ऊब और अजनबीपन भी है। यह मनःस्थिति महानगरीय प्रेम का दुखान्त है—

> *कई बार मैं उससे ऊबा*
> *नहीं जानता हूँ किस-किस ओर चला गया।*

कई बार एक अँधेरे से निकलकर दूसरे/अँधेरे में
जाने की कोशिश की
लेकिन प्रत्येक बार रुका और मुड़ा
और नहीं जानता हूँ क्यों
अपने ही बनाये हुए रास्तों को
अपनी ही पीठ पर लाद
वहाँ लौट आया—वह जहाँ
निढाल पड़ी हुई थी

(वह मेरी नियति थी)

भागकर अकेलेपन से अपने तुममें मैं गया
सुविधा के कई वर्ष तुममें व्यतीत किये
कैसे ? कुछ स्मरण नहीं
मैं और तुम अपनी दिनचर्या के पृष्ठ पर
एक संयुक्ताक्षर

सच है तुम्हारे बिना जीवन अपंग है
फिर भी/ क्यों लगता मुझे/ प्रेम
अकेले होने का एक ढंग है

(फिर भी)

उसके बियाबान जीवन को
दर्पण की तरह/ मैं उठाता हूँ
(उसके खुरदुरे प्राकृत कन्धों पर
झुक/ सिर धर
जानता नहीं हूँ मैं
रोता है कौन
वह या मैं ?)

(दर्पण)

धन्य! हम दोनों का घबराया प्यार
एक के न होने पर
अपना अकेलापन/ ढोने का भय !
अनसुने रोने का भय

× × ×

बाध्य हैं हम दोनों
एक दूसरे से घृणा करते हुए
करने को/प्यार

(बन्द पृथ्वी का प्रेम)

प्रेम की इस विडम्बनामूलक स्थितियों का सामना करते हुए कवि में फिर भी यह बेचैनी शेष है कि वह अपने को किसी के प्रति समर्पित नहीं कर सका।

सारा का सारा सका न पा
सारा का सारा सका न दे
मैं तुममें घुटता रहा और
अपने में चुकता रहा किन्तु
तुमको मैं सारा-का-सारा सका न पा
अपने को सारा सका न दे।

(युगल-2)

महानगरीय जीवन के प्रेम की नियति में अजनबीपन की भी अजीब ट्रेजेडी होती है। श्रीकांत की प्रेम कविताएँ इस परायेपन से कुढ़ती हैं—

प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
कुछ और अधिक अजनबी मुझे

(युगल-2)

यह दिल्ली का प्रेम है जिसने श्रीकांत के प्रेम को तोड़ दिया। सन् 60 के दिल्ली-जीवन में उस छूटे हुए प्रेम को याद करते कभी कवि ने लिखा था—

तुमने वर्षान्त पर मुझे एक बाली दी धान की
क्वार में उजाली दी कास की
कातिक में झउआ भर फूल हरसिंगार के

मैं लेकिन जल भर-भर लाता हूँ आँख में
क्या जाने मेरा मन कैसा हो जाता है ?
क्या कुछ ढूँढ़ा करता हूँ पीछे
छूट गये वर्षों की राख में
क्या जानूं पीछे और लौट जाता हूँ

मैं बारह मास में
लगता है बोये थे मैंने जो हीरे-मोती/
इस आकाश में
जीवन ने बिखरा दिया सब यहाँ-वहाँ घास में
(आकाश में बोये हीरे-मोती)

ऐसा लगता है, मोहभंग से उपजी कविता के बुख़ार में श्रीकांत ने सहज प्रेम की उस धारा को हमेशा के लिए खो दिया जो उनके छत्तीसगढ़ के प्रेमजल में लगातार बह रही थी। यद्यपि श्रीकांत ने अपनी प्रेम कविता की सफ़ाई में यह वक्तव्य दिया है : "नष्ट होने की भावना भी प्रेम का एक अविभाज्य अंग है। शकुन्तला को पढ़कर गेटे ने कहा था 'इट इज़ ए मीटिंग प्वाइंट ऑफ़ पैराडाइज़ एण्ड हेल' प्रेम में सिर्फ़ चुम्बन और सहवास और सुख-शैया ही नहीं, सब कुछ है, नरक है, स्वर्ग है, दर्प है, घृणा है, क्रोध है, द्वेष है, आनन्द है, लिप्सा है, कुत्सा है, प्रतीक्षा है, उल्लास है, कुण्ठा है, हत्या है।"[1]

पर सवाल उठता है प्रेम की इस बिना पर *मायादर्पण* में व्यक्त श्रीकांत की उत्तर प्रेम अनुभूतियाँ क्या अपना बचाव कर सकती हैं?

---

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृष्ठ 363

6

जो घटा है बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ

"अठारहवीं शताब्दी में मनुष्यता ने एक दूसरा ही रास्ता पकड़ लिया। यह रास्ता था विज्ञान और टेक्नोलॉजी का। इस पर चलती हुई मनुष्यता इन ढ़ाई सौ वर्षो में जिस जगह पहुँची है, क्या यही उसका गंतव्य था। यह सवाल स्वयं मनुष्यता के सामने मुँह बाये खड़ा है। युद्ध का भय इंसान को जकड़े हुए है, परमाणु संहार का ख़तरा उसकी गरदन पर डिमॉक्लीज़ की तलवार की तरह झूल रहा है, समृद्ध समाजों में दिशाहीनता है, ग़रीब देशों में भुखमरी है, काले और गोरे का भेद आज पहले से अधिक तीव्र है, ऊर्जा के स्रोत सूख चले हैं, क्रान्तियाँ अपने वायदे पूरा नहीं कर सकी हैं। विचारधाराएँ निष्प्राण जान पड़ती हैं।"[1]

बीसवीं शताब्दी की चिन्ताओं के सिलसिले में यह बात श्रीकांत वर्मा ने अवसान के समीप खड़ी इस शताब्दी के कोई दो दशक पहले कही थी। *जलसाघर* कविता-संग्रह की कविताओं को पढ़ते हुए श्रीकांत की यह चिन्ता हू-ब-हू लागू होती है। उल्लेखनीय है कि *जलसाघर* का कविताएँ श्रीकांत के दूसरे दौर की आख़िरी कविताएँ हैं। *मायादर्पण* की अपेक्षा *जलसाघर* की केन्द्रीय चिन्ता है—बीसवीं शताब्दी, मनुष्य और उसकी नियति। श्रीकांत के इस संग्रह की कविताएँ इस सदी के अन्तहीन प्रश्नों से जिरह करती हैं। वे मानते हैं क्रि बीसवीं शताब्दी में उजाले की अपेक्षा अँधेरा ज़्यादा है। कहना न होगा यह अँधेरा *जलसाघर* की कविताओं में चौतरफ़ा छाया हुआ है। श्रीकांत बीसवीं शताब्दी के सिलसिले में नीत्शे की परिभाषा से इत्तफ़ाक़ रखते हैं : 'यह संहार, आत्महत्या, घृणा, मृत्यु और महानाश की शताब्दी होगी।' श्रीकांत आधुनिक होने के बावजूद बीसवीं शताब्दी की कुल उपलब्धि विफलता मानते हैं। वे कहते हैं : "आज परमाणु अस्त्र जिस तरह से इकट्ठा हो रहे हैं, उससे तीसरे विश्वयुद्ध की आशंका भी निर्मूल नहीं है। तो तीन विश्वयुद्धों को सहने का

1. *बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में* की भूमिका : 1982

माद्दा रखने वाली और दो-दो विश्वयुद्धों से क्षत-विक्षत शताब्दी में हमने जन्म लिया। उसमें हम रह रहे थे और सह रहे हैं। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि इस पीड़ा को, इस ट्रैज़ेडी को सबसे अधिक विश्व कविता ने ही ढोया है। जब इन्सान अपने दर्द को ढो सकने में असमर्थ हो जाता है तब उसे एक कवि की ज़रूरत होती है जो उसके दर्द को ढोये अन्यथा वह व्यक्ति आत्महत्या कर लेगा।"[1]

जलसाघर के सिलसिले में यह दूसरा वक्तव्य भी महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इन्हीं चिन्ताओं ने श्रीकांत को इस शताब्दी के प्रश्नों से मथा। सरसरी तौर पर *जलसाघर* की कविताओं में चारों तरफ़ युद्ध और उसकी विभीषिका है। पर जलसाघर की कविताओं के बीच में अटका है दमन, शोषण, अत्याचार, आक्रमण और हिंसा, जिनको पढ़ते हुए पाठक के मन में एक महाशोक पैदा होता है। कवि कहता है–

यूरोप/ बड़बड़ा रहा है बुख़ार में
अमेरिका/ पूरी तरह भटक चुका है अन्धकार में
एशिया पर/ बोझ है गोरे इन्सान का
सम्भव नहीं है
कविता में वह सब कह पाना
जो घटा है बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ
काँपते हैं हाथ

पृथ्वी की एक-एक सड़क पर
भाग रहा है मनुष्य
युद्ध पीछा कर रहा है
(युद्धनायक)

अगर *जलसाघर* के काव्य-संसार पर ग़ौर करें तो चारों तरफ़ बीसवीं शताब्दी का नरक और दहशत भरी हुई है। विश्वयुद्ध और विश्व राजनीति के सभी कुशल खिलाड़ी युद्ध के इस खेल में अपने को आज़मा रहे हैं। युद्ध की ख़ौफ़नाक छाया एक चील की तरह इन कविताओं के संसार में झपट्टा मार रही है। मानो पूरी दुनिया कलिंग, खैबर, समरकन्द, वियतनाम, चेकोस्लोवाकिया, क्रेमलिन, अमरीका, चीन, हिरोशिमा, पेरिस, ढाका, यूनान, वियना, प्राग की व्यस्त सड़कें किसी ग्लोब की तरह घूम रही हैं, जिसमें दुनिया के सभी पेशेवर युद्धनायक और इतिहासपुरुष लेनिन, स्तालिन, बेरिया, गोएबेल्स, कन्फ्यूसियस, क्लाड इथरली, गोडसे, अशोक, बाबर, चंगेज़ ख़ाँ युद्ध के औचित्य-अनौचित्य को लेकर रात-दिन बहस करते हैं।

---

1. *उजाले में वापस* : श्रीकांत वर्मा रचनावली, पृष्ठ 545

कवि इस अन्तहीन बहस के बीच प्रतिवाद करता है और दुनिया के इस सभी नामी-गिरामी चेहरों के समक्ष विश्व मनुष्य के शाश्वत प्रश्नों की झड़ी लगा देता है। मूल प्रश्न है—

निकलकर अकेले में गीदड़ की तरह
मुँह उठाये हुए
रोता है/पृथ्वी का/दुःख
पनाह दो।

(वर्षफल)

क्योंकि—मोहन जोदड़ो से अब तक का/ सिलसिला है
युद्ध का एक अटूट सिलसिला है

(युद्धनायक)

सवाल उठता है युद्ध मनुष्य का पीछा कर रहा है या मनुष्य युद्ध का ख़ुद पीछा कर रहा है। यह द्वन्द्व *जलसाघर* की कविताओं में बार-बार उभरता है—

यही सोचते हुए गुज़र रहा हूँ मैं
कि गुज़र गयी बग़ल से गोली दनाक से

(*जलसाघर*)

इन कविताओं के बीच जो दुनिया के ऐतिहासिक पात्र हैं—उनमें अशोक कवि का प्रतिनिधि लगता है, जिसमें बुद्ध की महाकरुणा है। बीसवीं शताब्दी में यह महात्मा गाँधी का भी प्रतीक हो सकता है। कलिंग इस संग्रह की आख़िरी कविता है जिसका शोकाभिभूत नायक है—अशोक, जो केवल कलिंग से नहीं लौट रहा है, बल्कि पूरे *जलसाघर* के बीच अकेला खड़ा, युद्ध को जीतकर भी क्लान्त और परास्त है। क्योंकि उसके कानों में बीसवीं शताब्दी की चीख़ है जो केवल वही सुन रहा है—

केवल अशोक लौट रहा है
और सब/ कलिंग का पता पूछ रहे हैं
केवल अशोक सिर झुकाये है
और सब/ विजेता की तरह चल रहे हैं
केवल अशोक के कानों से चीख़/ गूँज रही है
और सब/ हँसते-हँसते दोहरे हो रहे हैं
केवल अशोक ने शस्त्र रख दिये हैं।

केवल अशोक
लड़ रहा था।

(कलिंग)

कलिंग युद्ध का ऐतिहासिक भारतीय नायक अशोक प्रतीक है—भारत की शान्तिप्रिय नीति का जो विश्व राजनीति में लम्बे अरसे से शान्तिप्रिय नीति के लिए लड़ाई लड़ता आ रहा है, यह अशोक महज़ कलिंग युद्ध का ऐतिहासिक पात्र ही नहीं और वह न केवल भारत की युद्ध के विरोध में शान्तिप्रिय नीति का प्रवक्ता है, बल्कि पूरी दुनिया में मानवीय शोषण और आतंक से सताये हुए आम आदमी का बयान भी है जो देशकाल की सीमाओं से ऊपर उठकर मानवीय दासता के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाता है। एक दूसरे कोण से देखें तो इस संग्रह की कविताओं में जहाँ 'मैं' नज़र आता है वह वस्तुतः अशोक ही है जो नामी-गिरामी युद्धनायकों से लड़ता और जिरह करता दिखाई देता है।

ऊपरी तौर पर *जलसाघर* की कविताएँ युद्ध, शोषण, दमन की दृश्यावलियाँ लगती हैं। पर सच्चाई यह है कि इन दृश्यावलियों के पीछे कवि की विश्व राजनीति से एक असमाप्त बहस है, जिरह है, एक ज़रूरी हस्तक्षेप है। इसलिए इन कविताओं की केन्द्रीय चिन्ता युद्ध नहीं बल्कि युद्ध को पैदा करने वाली विश्व राजनीति के वे बीभत्स चेहरे हैं, जिन्हें श्रीकांत निर्मम होकर व्यक्त करते हैं।

द्रोणाचार्य ! इन्हें मत सिखाओ
धनुर्विद्या
ये सत्य के लिए नहीं
सत्ता के लिए लड़ रहे हैं

(प्रजापति)

ये काव्य पंक्तियाँ आज विश्व राजनीति पर जितनी लागू होती हैं उतनी ही समकालीन भारतीय राजनीति पर। श्रीकांत ने इन कविताओं के बीच उन पूँजीवादी अधिनायकवादी देशों और शक्तियों का तीव्र विरोध प्रकट किया है जो साम्राज्यवाद की लिप्सा में घिरे तीसरी दुनिया और एशिया के ग़रीब मुल्कों को युद्ध में झोंक देते हैं। ज़ाहिर है उनका इशारा अमेरिका और चीन दोनों की ओर है—

तुम किसका पता पूछ रहे हो?
मुबारक हो हेनरी, मुबारक हो
लौटते हुए वियतनाम से
तुम किसे ढूँढ़ रहे हो
अपने अतीत को ?/ भविष्य को ?

हिरोशिमा की अन्तरात्माओं को
कोरिया की दबी हुई सिसकी को!
× × ×
कायर/धोने आये हो तुम
एशिया की नदियों में
ख़ून में रँगे अपने हाथ
हत्यारे/लौट जाओ
छोड़ दो मुझे मेरे हाल पर
(प्रजापति)

इन कविताओं में कवि ने रंगभेद की राजनीति को भी बेनकाब किया है। ज़ाहिर है उसकी सहानुभूति तीसरी दुनिया के उन मुल्कों के साथ है जो रंगभेद की नीति के शिकार हैं। जोसेफ़ अब्रुकुआ जैसे नीग्रो कवि की यातना को उजागर करके कवि ने गोरी चमड़ी वाले मुल्कों को बेनकाब कर दिया है।

दिलचस्प संवाद-शैली की इस कविता में इस नीग्रो कवि की यातना का जितना भयावह चित्रण है, उससे पाठक दहल जाता है। कवि अब्रुकुआ की यह व्यथा देखिए—

मुझे गोरों से नफ़रत है
कालों से प्रेम
मैं आदमी को स्वर से नहीं
रंग से पहचानता हूँ
मुझे अपने हत्यारे की तलाश है
मैं ढूँढ़ रहा हूँ अदालत
मैं ढूँढ़ रहा हूँ वकील
(जोसेफ़ अब्रुकुआ)

कवि का कहना है कि इन सारी अमानवीय यातनाओं, शोषणों के विरुद्ध कोई कारगर हस्तक्षेप नहीं है। जनता थककर सो गयी है—

न्यायालय बन्द हो चुके हैं अर्जियाँ हवा में
उड़ रही हैं
कोई अपील नहीं/ कोई क़ानून नहीं
कुहरे में डूब गयी हैं प्रत्याशाएँ

धूल में पड़े हैं
कुछ शब्द/ जनता थककर सो गयी है
(प्रजापति)

ऐसे परिदृश्य में कवि के सामने समस्या है बीसवीं शताब्दी के नरक का कैसे प्रतिकार किया जाय। कवि कहता है—"लिखने का अर्थ है—नरक से गुज़रना—

इस भयानक समय में कैसे लिखूँ
और कैसे नहीं लिखूँ?
सैकड़ों वर्षों से सुनता आ रहा हूँ
घृणा नहीं प्रेम करो—
किससे करूँ प्रेम? मेरे
चारो ओर हत्यारे हैं
(प्रजापति)

कहना न होगा *जलसाघर* में चारों तरफ़ हत्यारे भरे पड़े हैं। कवि हत्यारों के ख़तरे से पैदा हुए द्वन्द्व और तनाव से जूझ रहा है। इस तरह वह पूरी शताब्दी से जिरह करता है—एक असमाप्त ज़िरह।

इस काव्य-संग्रह की कविताओं को पढ़ते वक़्त श्रीकांत के काव्य विकास पर भी ग़ौर करने की ज़रूरत है। *मायादर्पण* में कवि ने यथार्थ को केवल सामाजिक यथार्थ तक ही सीमित रक्खा था। जबकि *जलसाघर* में आलोचनात्मक यथार्थवाद की गम्भीर आहटें मौज़ूद हैं। कवि यथार्थ के प्रति तटस्थ नहीं, बल्कि हस्तक्षेप की मुद्रा में है—

मैं इतना ही कहना चाहता हूँ
यह दुनिया/ याह्या ख़ान के लिए नहीं बनी है

(युद्धनायक)

दूसरी बात जो श्रीकांत की काव्यानुभूति के बदलाव के सिलसिले में महत्त्वपूर्ण है कि कवि का *मायादर्पण* की कविताओं में व्यक्त व्यक्तिगत 'सिनिसिज़्म' इन कविताओं में बिल्कुल नहीं है। यह व्यक्ति का सार्वजनिक रूपान्तर है जहाँ वह विश्व के सार्वकालिक और सार्वभौमिक प्रश्नों से जूझ रहा है। यद्यपि इन कविताओं का तापमान भी पहले की तरह चढ़ा हुआ है। व्यंग्य और नाटकीयता की मुद्राएँ पहले से ज़्यादा धारदार और पैनी हुई हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इन कविताओं में

इतनी गति है, इतनी स्फूर्ति और उत्तेजना है कि लगता है, कवि ने इसे एक साँस में लिखी है। यह कवि की काव्य पीड़ा के ऊपर भयानक दबाव का प्रतिफल लगता है। स्वयं कवि ने कहा है—

मेरी कविता में
सन्ताप है
शोक है

(शोक)

वह कविता के उस मुकाम पर खड़ा है जहाँ देश को खोकर उसने पायी है यह कविता, पर इस कविता को पाने के पीछे उसने क्या कुछ नहीं खोया है—

घर, प्रेम, माँ-बाप, कविताएँ एक-एक कर छूटते हैं
सब/ दाँव पर लगा हूँ ख़ुद मैं
दौड़ रहा हूँ हरेक इच्छा के बिल्कुल क़रीब से फेंकता हुआ
अपने
जबड़ों से फेन

(विजेता)

सचमुच श्रीकांत वर्मा के दूसरे दौर की कविताएँ उनके जबड़ों से निकली फेन की तरह लगती हैं। उच्च रक्तचाप में लिखी गयी—अपनी और समाज की दिलचस्प इबारतें।

7

श्रीकांत वर्मा का *मगध*

श्रीकांत वर्मा के *मगध* के साथ उनके तीसरे और अन्तिम दौर की काव्य-यात्रा आरम्भ होती है, यह यात्रा इतिहास और काल की है। पर यह यात्रा वर्तमान से पलायन की नहीं है बल्कि अपने समय, समाज और राजनीति में दृढ़तापूर्वक धँस कर यथार्थ के संधान की है। भारतीय राजनीति के क्रूर चेहरे का यह निर्मम साक्षात्कार सिर्फ़ समकालीन व्यवस्था का मर्सिया भर नहीं है। दरअसल, श्रीकांत वर्मा ने राजसत्ता और राजनीतिक प्रभुसत्ता के शिखर के यथार्थ का न केवल साक्षात्कार किया था बल्कि अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में एक दुर्लभ विरक्त और निर्वैयक्तिक तटस्थता के साथ अप्रत्यक्ष व्यंजना की आड़ में सन् 80 के आस-पास लिखी *मगध* की कविताओं में अपने अन्तिम मोहभंग की तीव्र अभिव्यक्ति भी कर रहे थे। पर उनका यह मोहभंग वैयक्तिक नहीं बल्कि एक सार्वजनिक सच भी है, जहाँ व्यवस्था की विफलता की निर्मम शल्यक्रिया है। यह शल्यक्रिया सजीव इसलिए भी है कि कवि स्वयं उसका सहभोक्ता और सहभागी है। यह एक घर के भेदी का लंका-दहन नहीं बल्कि एक सतर्क काव्य-विवेक वाले कवि की व्यवस्था से खुला विद्रोह है।

नामवर सिंह की यह टिप्पणी सटीक लगती है कि "बाहर से व्यवस्था का विरोध करना जितना आसान है उसके भीतर जाकर विरोध कर पाना उतना ही कठिन। श्रीकांत ने व्यवस्था के भीतर जाकर जितनी साहसपूर्ण विरोध की अभिव्यक्ति की है वह श्रीकांत के कवि-कर्म का एक दुर्लभ प्रसंग है।"[1]

कविताओं को पढ़ते हुए एक दिलचस्प बात यह उभरती है कि अगर जीवन और मृत्यु सम्बन्धी पाँच-सात कविताओं को हटा दिया जाय तो लगभग सारी कविताएँ अलग-अलग शीर्षकों में लिखी जाने के बावजूद एक लम्बी कविता का आभास देती हैं। दरअसल, यह बोध इसीलिए उपजता है क्योंकि कवि की अनुभूति

---

1. श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार, 1995 के मौक़े पर दिया गया वक्तव्य, 18 सितम्बर : 1986

पर इतिहास और संस्कृति के चरितनायकों के बहाने हमारी व्यवस्था के चेहरों का इतना दबाव है कि उनकी अभिव्यक्ति में वह बेताब है। इसीलिए वह कहता है—

बन्धुओ/यह वह मगध नहीं
तुमने जिसे पढ़ा है/किताबों में
यह वह मगध है
जिसे तुम मेरी तरह गँवा
चुके हो

(मगध)

ध्यान से देखा जाय तो गँवा चुकने का यह दंश इस संग्रह की कविताओं की पार्श्वभूमि में चीखता नज़र आता है, जिसे विलाप कहा जा रहा है। कवि वर्तमान की पराजय, अभिशाप और सन्ताप को बार-बार इतिहास के मिथकों, प्रतीकों और पात्रों के जरिये अपने को ढूँढ़ने, अपने को अभिव्यक्त करने की कोशिश करता है। मगध, कौसाम्बी, कपिलवस्तु, तक्षशिला, पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, श्रावस्ती, लिच्छवि, हस्तिनापुर, नालंदा, मिथिला, कोशल, कन्नौज जैसे प्राचीन गणराज्यों की पतनगाथा के जरिये श्रीकांत वर्तमान व्यवस्था की अन्तहीन पतन-गाथाओं, पाखण्डों, दुरभिसंधियों पर फ़ोकस ही नहीं करते बल्कि राजनीति के भीतरी दाँवपेंचों की अन्तरंग दुनिया को निष्कवच करते हैं।

ऐसा लगता है *माया दर्पण* में श्रीकांत की युवा आँखों में देखा गया मोहभंग *मगध* तक आते-आते व्यवस्था से चरम मोहभंग में बदल गया। कवि में मोहभंग की यह करुण परिणति आकस्मिक नहीं है बल्कि स्वयं श्रीकांत के राजनीतिक जीवन के चुनाव का भी मोहभंग है।

श्रीकांत इन कविताओं के बारे में ख़ुद कहते हैं, "मेरी पिछली कविताओं में भूगोल था। मेरी नयी कविताओं में काल होना चाहिए और कालातीत भी। मगर यह इतिहास का काल या कालखण्ड नहीं। यह वह काल है जो इतिहास को जन्म देता है और लील लेता है। कलिंग, मगध, अवन्ती, मिथिला, मथुरा, उज्जयिनी, कोशल, अजन्ता, विदर्भ, चम्पा—सभी उन जालों की तरह हैं जिन्हें काल ने बुना और काल ने ही तोड़ दिया। कह सकते हैं कि वे अब केवल स्मृतिशेष हैं। स्मृतियों का प्रतिफल आँसू है। मैं आँसू नहीं बहा रहा हूँ। ज़ाहिर है कलिंग, मगध, अवन्ती सिर्फ़ स्मृतियाँ नहीं हैं। न ही अम्बपाली, वासवदत्ता, चन्द्रगुप्त और अशोक। मैंने तो अभी-अभी कुछ ही क्षण हुए अशोक को कलिंग से लौटकर इधर से गुज़रते हुए देखा था—कहाँ है अशोक?"[1]

---

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृष्ठ 461

इसलिए अरुण कमल के इस निष्कर्ष से सहमत होना कठिन है कि "यह इतिहासबोध या कालबोध नहीं है, यह मात्र अतीतबोध है—शासक वर्ग का अतीतबोध, वर्तमान से त्रस्त और भविष्य से आतंकित कवि मन का सुरक्षित आश्रय-स्थल।"[1]

देखने की बात है क्या सत्ता की इस निस्सारता को श्रीकांत इतिहासबोध के साथ नहीं देख रहे? क्या जीवन की विफलता को और उसकी नियति को कालबोध के साथ नहीं पकड़ रहे? अगर मगध की कविताएँ कवि का विलाप हैं तो फिर *व्यवस्था के निर्मम विरोध का असली स्वर केवल नागार्जुनी ही हो सकता है?* क्या श्रीकांत के व्यवस्था-विरोध के इस चरम रूप पर विश्वास इसलिए नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि वे उसी व्यवस्था के अंग थे? अरुण कमल को इस मुद्दे पर भी बहस करनी चाहिए। हालाँकि वे यह मानते हैं कि "*मगध* अपने पूरे संकल्प और संरचना में राजनीतिक कृति है। इसकी मुख्य चिन्ता और प्रेरणा राजनीतिक है। स्वयं पुस्तक का नाम ही *मगध*—भारत के अब तक के सबसे बड़े साम्राज्य का नाम है।"[2]

इस लिहाज़ से देखा जाय तो संग्रह की हस्तिनापुर, हस्तिनापुर का रिवाज़, तक्षशिला, उज्जयिनी, उज्जयिनी का रास्ता, कोशल गणराज्य, कोशल में विचारों की कमी है, जड़, अन्तःपुर का विलाप, पाटलिपुत्र, हस्तक्षेप, शकटार, तीसरा रास्ता जैसी कविताएँ समकालीन व्यवस्था और राजनीति पर न केवल सटीक टिप्पणियाँ, विश्लेषण हैं बल्कि उसकी निर्ममतापूर्वक चीर-फाड़ हैं। इस चीर-फाड़ में श्रीकांत व्यवस्था के अंग होने के बावजूद कोई हमदर्दी नहीं रखते। इसलिए विलाप का सवाल ही नहीं। बल्कि वह अपना पक्ष चुनते हैं। जब सभी चुप हैं तो *मगध* की चुप्पी को तोड़कर दहाड़ते हैं—

मैं फिर कहता हूँ
धर्म नहीं रहेगा तो कुछ नहीं रहेगा—
मगर मेरी कोई नहीं सुनता
हस्तिनापुर में सुनने का रिवाज़ नहीं

तब सुनो या मत सुनो
हस्तिनापुर के निवासियो! होशियार
हस्तिनापुर में/ तुम्हारा एक शत्रु पल रहा है विचार
और याद रक्खो

---

1. *आलोचना*, जुलाई-सितम्बर 86, पृष्ठ 49
2. वही, पृष्ठ 49

आजकल महामारी की तरह फैल जाता है
विचार

(हस्तिनापुर का रिवाज़)

सवाल उठता है—क्या विचार का डर है हस्तिनापुर के हुक्मरानों में जिन्होंने विचारों को छोड़कर ही राजनीति शुरू की है। ऐसे हस्तिनापुर को देखकर कोई भी कह सकता है कि यह हस्तिनापुर नहीं है—

सम्भव हो/तो सोचो

हस्तिनापुर के बारे में
जिसके लिए/थोड़े-थोड़े अन्तराल में

लड़ा जा रहा है महाभारत
और किसी को फ़र्क़ नहीं पड़ता
उस व्यक्ति को छोड़
जो आता है हस्तिनापुर
और कहता है
नहीं-नहीं यह हस्तिनापुर नहीं हो सकता

(हस्तिनापुर)

दरअसल, इन कविताओं में जितने गणराज्यों की चर्चा है, वे एक नाम से भी पुकारे जा सकते हैं। क्योंकि मगध और कोशल में नाम का ही भेद है, अन्तर नहीं कुछ। ऐसा लगता है श्रीकांत गणराज्यों की विभिन्न संज्ञाओं से व्यवस्था की पतन-गाथा को चित्रित करते हैं। मसलन कोशल गणराज्य और कोशल में विचारों की कमी है, कविताओं में वे कोशल गणराज्य के बहाने देश में व्यवस्थाओं के नक़ली लोकतन्त्र का पर्दाफ़ाश करते हैं—

कोशल मेरी कल्पना में गणराज्य है
कोशल में प्रजा सुखी नहीं

(कोशल गणराज्य)

कोशल अधिक दिन टिक नहीं सकता
कोशल में विचारों की कमी है

(कोशल में विचारों की कमी है।)

इसी तरह जड़ कविता में व्यवस्था की जड़ता पर प्रश्न चिह्न खड़ा करके कवि कहता है—

चुप क्यों हो मित्रो ?
क्या हुआ मगध में
क्या हुआ ? चुप क्यों हो ?
क्या काम नहीं आया ज़हरमोहरा ?
क्या मगध में कोई नहीं रहा ?
कभी-कभी/ मगध को न जाने क्या हो जाता है
सब कुछ सामान्य होने के बावजूद
न कोई बोलता है/ न मुँह खोलता है
सिर्फ़ शकटार/ जड़ को छू
पेड़ की कल्पना कर सिहरता है
मित्रो/ जो सोचेगा/ सिहरेगा।

यह शकटार व्यवस्था के भीतर का वह विद्रोही चेहरा है जो जब-तब हस्तक्षेप करता है। कहना न होगा, इन कविताओं में श्रीकांत का विद्रोही तेवर विभिन्न पात्रों, घटनाओं के माध्यम से उभरता है, जो हर समय हस्तक्षेप की मुद्रा में प्रकट होता है—

कोई टोकता तक नहीं
इस डर से/ कि कहीं मगध में
टोकने का रिवाज़ न बन जाय
एक बार शुरू होने पर
कभी नहीं रुकता हस्तक्षेप

वैसे तो मगधवासियो
कितना भी कतराओ
तुम बच नहीं सकते हस्तक्षेप से
जब कोई नहीं करता
तब नगर के बीच से गुज़रता हुआ
मुर्दा
यह प्रश्न कर हस्तक्षेप करता है
मनुष्य क्यों मरता है ?

(हस्तक्षेप)

हस्तक्षेप की यही मुद्रा श्रीकांत के कवि को उस मुकाम पर पहुँचाती है जहाँ सामाजिक कर्म की कविता अपने राजनीतिक विवेक के साथ कविता में यथार्थ का

संधान करती है और कवि की वाणी में ओज भरती है। इन कविताओं में श्रीकांत अवसाद और करुणा से ही नहीं भरे थे बल्कि कहीं गहरे स्तर पर व्यवस्था से नाराज़ और उद्विग्न थे। वे इतिहास में गणराज्यों के पास इसलिए जाते हैं क्योंकि वर्तमान व्यवस्था के लिए उदाहरण इन्हीं से दिये जा सकते थे।

श्रीकांत की तीसरा रास्ता कविता की काफ़ी चर्चा हुई है। यह तीसरा रास्ता क्या है? अरुण कमल की दृष्टि में "यहाँ अतीत के खोल में वर्तमान का बीज बज रहा है। इसकी सबसे प्रभावशाली व्यंजना तीसरा रास्ता कविता में हुई है, जहाँ व्यक्ति का होना समाज, धर्म-व्यवस्था, क़ानून और अन्ततः शासक के होने पर निर्भर है। व्यक्ति की परतन्त्रता की दुखान्त कथा तीसरा रास्ता कविता में व्यक्त है। ...*मगध* शासक वर्ग के सन्निकट विनाश का अपूर्व मर्सिया है। बहुत ईमानदारी और शक्ति से श्रीकांत वर्मा ने यह मर्सिया लिखा है। अन्त में उन्हें यह भी लगता रहा कि एक विचार मगध में पल रहा है जो ख़तरनाक है, और तीसरा रास्ता भी है जो मगध या कोशल होकर नहीं जाता समकालीन कविता इसी तीसरे रास्ते के खोज की कविता है।"[1]

जबकि नामवर सिंह की दृष्टि में "तीसरा रास्ता में कवि का पहला रास्ता यथास्थितिवादी, दूसरा रास्ता क्रान्तिकारी लेकिन तीसरा रास्ता वह महत्त्वपूर्ण रास्ता है जो राजधानियों और सत्ताओं से होकर नहीं जाता बल्कि वह समाज के परिवर्तनकारी दृष्टिकोण के रूप में मौजूद था। सत्ता के सान्निध्य में रहते हुए श्रीकांत वर्मा उस विचारशून्यता से क्लान्त थे जो आस-पास व्याप्त थी और उस शून्य की परिणति का भी उन्हें अहसास था। उनका कवि चाहता था कि आसन्न विनाश से बचने का रास्ता तलाशा जाय। उनकी यह लालसा उनकी तीसरा रास्ता जैसी कविताओं में मुखर हुई है।"[2]

तीसरा रास्ता के बारे में स्वयं श्रीकांत की कविता कहती है—

मित्रो! दो ही रास्ते हैं :
दुनीर्ति पर चलें/ नीति पर बहस बनाये रक्खें
दुराचरण करें/ सदाचार की
चर्चा चलाये रखें
× × ×
मित्रो/ तीसरा रास्ता भी/ है—

---

1. *पूर्वग्रह* : श्रीकांत वर्मा पर एकाग्र अंक, पृष्ठ 79
2. कविता का तीसरा रास्ता विषय पर एकाग्र व्याख्यान : *अमृत सन्देश,* 16 सितम्बर 1989

मगर वह/ मगध/ अवन्ती/ कोशल/
या विदर्भ/ होकर नहीं/ जाता
(तीसरा रास्ता)

अरुण कमल की श्रीकांत पर यह आशंकित टिप्पणी कि "श्रीकांत वर्मा यदि जीवित होते तो शायद तीसरे रास्ते की ओर मुड़ते...शायद न भी मुड़ते।" 'शायद न भी मुड़ते' का प्रश्न ही नहीं उठता : इसके गवाह हैं श्रीकांत की डायरी के वे पन्ने जहाँ उन्होंने सक्रिय राजनीति से अलग होने का फ़ैसला दर्ज किया है। और अपने बचे हुए जीवन को साहित्य के लिए समर्पित करने का संकल्प भी। मगर श्रीकांत के इस संकल्प के बीच में खड़ी थी—मृत्यु।

श्रीकांत वर्मा के इस *मगध* में मृत्यु की भी आहटें हैं। मराठी कवि-आलोचक चन्द्रकांत पाटील तो *मगध* को 'भारतीय सभ्यता पर लिखा एक मृत्युलेख' मानते हैं। वे कहते है : "मगध एक अजीब मर्सिया है, एक अजीब सिम्फनी है जो हर किसी संवेदनशील व्यक्ति की आन्तरिक गहराइयों को छूकर उसे विचित्र सन्नाटे में छोड़ जाती है और पता नहीं कि श्रीकांत जी जैसे महत्त्वपूर्ण समकालीन कवि के लिए यह जीत है या पराजय।"[1]

मगध में देखा जाय तो इतिहासबोध के साथ कालबोध का भी प्रक्षेपण है। यह कालबोध कवि के निजी मृत्युबोध से पैदा हुआ है। यह मृत्युबोध *मगध* में तो है ही, *गरुड़ किसने देखा है* संग्रह की कविताओं में भी काफ़ी सघन है। मृत्युबोध सरीखी कविताओं में श्रीकांत के जीवन की निस्सारता जैसे बोलती है। अधिकांश कविता कवि के विनय पद लगते हैं—निराला के आख़िरी दिनों में लिखे मृत्युगीतों की तरह—

गुनगाहक! गुन सागर! गुननिधान
बहुत वर्षों बाद
मैं आपके दरवाज़े आया हूँ
× × ×
पहचाना मुझे?/ बेताल/ मुझे मेरे कृत्यों ने
काल की रुग्ण डाल पर/लटका दिया था

अगर मैं आप को स्वर न दे सकूँ
आप मुझे स्वर दें।
(नांदी पाठ)

---

1. *पूर्वग्रह* : श्रीकांत वर्मा पर एकाग्र अंक : पृष्ठ 62

काशी में शव, मणिकर्णिका का डोम, रोहिताश्व, दीवार पर नाम, नियति : मौत से डरो, मृत्यु, मणिकर्णिका के नीचे मणिकर्णिका मिलेगी, और श्रीकांत की आख़िरी कविता विदेह में मृत्यु की सघन अनुभूतियाँ और अनुगूँजें हैं। ज़ाहिर है ये मृत्युबोध की भारतीय स्मृतियाँ हैं पर श्रीकांत काशी में शव, मणिकर्णिका का डोम सरीखी कविताएँ लिखकर पुराणों में वर्णित पाखण्ड के मोक्षद्वार में नहीं पहुँचना चाहते थे जैसाकि लोग लिखते हैं—मगध को होना है काशी। अगर ऐसा था तो श्रीकांत काशी का न्याय जैसी व्यंग्यात्मक कविता क्यों लिखते? जिसमें वे कहते हैं :

फ़ैसला हमने नहीं लिया
सिर हिलाने का मतलब फ़ैसला लेना नहीं होता

हर व्यक्ति का फ़ैसला
जन्म के पहले हो चुका है
(काशी में न्याय)

मृत्युबोध से आच्छादित इन कविताओं में श्रीकांत के कवि-मन की अत्यंत करुण अन्तःसलिला प्रवाहमान है। रोहिताश्व कविता में करुणा की यह अन्तःसलिला इतनी सघन और मार्मिक है कि ऐसी कविताएँ कविता की दुनिया में कभी-कभी सम्भव हो पाती हैं—

जब भी मणिकर्णिका जाओगे
एक वृद्ध को/ कोने में दुबका पाओगे
तुम्हें देख/ उसकी आँखों में/ कुछ
कौंधेगा/ वह रोहिताश्व, रोहिताश्व
बिसूरता/ तुमसे लिपट जायेगा
तब क्या करोगे?
यही न/ मैं रोहिताश्व नहीं हूँ

मैं सचमुच/रोहिताश्व/ नहीं हूँ
जिसका रोहिताश्व/ मारा गया हो
क्या तुम उसे/ विश्वास दिला सकते हो/
कि तुम रोहिताश्व नहीं
(रोहिताश्व)

श्रीकांत के जीवन में मृत्युबोध कितना हावी है, जिसकी साक्ष्य हैं—डायरियाँ जहाँ वे अपने मृत्युभय, संशय को सिलसिलेवार वर्णित करते हैं। यह मृत्युबोध उनकी

फ़ोबिया भी लगती है। अपने जीवन की आख़िरी कविता लिखते हुए भी वे मृत्युबोध से बच नहीं सके थे—

क्या कुछ नहीं कहा विदेह ने ?

तो सुनो/ सच सुनना चाहते हो
तो सुनो/ विदेह नहीं रहे।

(विदेह : रचनाकाल 9 जनवरी 1986)

यद्यपि श्रीकांत कहते हैं कि चाहता तो बच सकता था—

चाहता तो बच सकता था
मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा/ कैसे रचेगा

(हवन)

यह है—श्रीकांत वर्मा की ट्रैजेडी। श्रीकांत के इस मगध में छत्तीसगढ़ के श्रीकांत की ट्रैजेडी। व्यवस्था की ट्रैजेडी तो है ही। पर क्या यह श्रीकांत के कवि की अनन्य उपलब्धि नहीं?

8

कविता का मायावस्त्र (काव्यभाषा और काव्यशिल्प)

श्रीकांत वर्मा नयी कविता के दौर में शायद उन थोड़े से कवियों में से हैं, जिन्होंने काव्य-भाषा का आविष्कार किया। उनके काव्य-संघर्ष में इस भाषा की बड़ी अहम भूमिका है। उनके लम्बे कविकर्म में काव्य-भाषा, काव्य-विकास के साथ लगातार बदलती गयी। उनकी कविता के विकास के जो तीन चरण हैं : 1954 से 59, 1960 से 1973 और 1979 से 1986 तक इनमें ग़ौर किया जाय, तो कम-से-कम दो बार उन्होंने अपनी काव्य-भाषा को बदल दिया। यह बदलाव 1960 और 1979 में स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है।

1960 के आस-पास जब वे अपनी नयी काव्यभूमि खोज रहे थे, उस समय यथार्थ की खुरदुरी ज़मीन पर उतरने के लिए उतनी ही नंगी, बेलौस और आक्रामक भाषा की ज़रूरत थी। कहना होगा कि 60-61 तक आते-आते श्रीकांत ने वह भाषा पाली थी, जिसकी उनको दरकार थी। वह भाषा थी--नयी कविता के काव्य आभिजात्य से मुक्ति का। उन्होंने नयी कविता की शिष्ट, शालीन और अभिजन समाज को वाणी देनेवाली भाषा को अपनी काव्यभूमि से जबरिया हटाकर एक युवक की वाणी को दोटूक बनाने वाली भाषा गढ़ी।

ग़ौर किया जाय तो श्रीकांत की भाषा में जो दोटूकपन, आक्रामकता और 'नेकेडनेस' आयी, वह लोहिया की वाणी और विचार से पैदा हुई। ख़ासतौर से श्रीकांत ने अपने गद्य के लिए जो भाषा अर्जित की उस पर सीधा-सीधा असर लोहिया का दिखता है। कविता के लिए उन्होंने लोहिया की वाणी से दो चीज़ें लीं : दोटूकपन और आक्रामकता। आगे चलकर उन्होंने इसी दोटूकपन और आक्रामकता से व्यंग्य और नाटकीयता पैदा की। अपनी इस भाषा को पाने के लिए श्रीकांत ने वर्षों तक संघर्ष किया। क्योंकि उनके समकालीनों में किसी के पास वह काव्यभाषा नहीं थी जिस पर श्रीकांत खड़े थे।

इस बात को नन्दकिशोर नवल भी स्वीकार करते हैं : "स्वभावतः *मायादर्पण*

और *जलसाघर* की कविताओं में आकर श्रीकांत से पुरानी भाषा छूट गयी और उसकी जगह उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसे उनका शब्द लेकर निर्वसन या नंगी भाषा कहा जा सकता है—वर्षों तक लिखते हुए मैंने प्रमाद में/अनुभव किया/दूसरी कोई भाषा न थी। इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता थी आक्रामकता जो विद्रूप यथार्थ को छिपाने वाले भाषागत आभिजात्य और सुरुचि को तोड़कर और पाठकों को एक धक्का देकर वस्तुस्थिति का ज्ञान कराती है।"[1]

यह दूसरी बात है कि नामवर सिंह ने नयी कविता पर क्षणभर वाली लेख माला में इस भाषा पर व्यंग्य करते हुए कहा था कि "मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक और स्पष्टवादिता की दौड़ वक्तव्य तक।" लेकिन *कविता के नये प्रतिमान* में श्रीकांत की काव्य भाषा में व्यंग्य और नाटकीयता की उपस्थिति को उन्होंने सराहा भी। देखा जाय तो श्रीकांत की नयी कविता से असहमति केवल काव्यानुभूति के स्तर पर ही नहीं थी बल्कि काव्याभिव्यक्ति के स्तर पर उनकी गम्भीर असहमतियाँ थीं। जिस कोमल भाषा को उन्होंने अपनी आरम्भिक कविताओं में गले लगाया, उसे स्वयं सन् 60 के बाद उतार फेंका। उनकी कविता में भाषा का यह बदलाव कैसे आया, इसे देखने के लिए घरधाम (1959) कविता को ग़ौर से देखना होगा। इस कविता में भाषा का लोकल कलर छत्तीसगढ़ के परिवेश के साथ चित्रित हुआ है। इस कविता की संज्ञाओं और क्रियाओं में आये शब्द देशज हैं। महुआ, कण्डा, गुगुआना, धुधुआना, चिलचिलाना, कपास, फावड़ा, ताबीज, पत्थरी नदी जैसे शब्द का प्रयोग कविता में अपना नया अर्थ प्राप्त करते हैं। पर इनमें आये पारम्परिक शब्द किस तरह नये अर्थ के साथ भासमान होते हैं यह देखने की चीज़ है—मैं जीना चाहता हूँ और जीवन को/भासमान करना चाहता हूँ। यह 'भासमान' श्रीकांत के पहले सिर्फ़ निराला के वहाँ आया है—'लड़कियाँ घरों को करती भासमान'; यह भासमान दोनों जगह कितना सार्थक, कितना प्रभावशाली है। यह देखने की चीज़ है।

जिन कविताओं के जरिये श्रीकांत ने अपनी कविता में ज़बरदस्त भाषिक तोड़-फोड़ की उनमें नक़ली कवियों की वसुन्धरा, मायादर्पण, दिनचर्या, जीवन बीमा, प्रेस वक्तव्य, समाधि लेख, दोटूक रास्ता, बुख़ार में कविता, अन्तिम वक्तव्य, एक स्वदेशी का प्रतिशोध, एक स्त्री का कायाकल्प, ढंग जैसी कविताएँ देखी जा सकती हैं। *मायादर्पण* की कविताओं में व्यंग्य, आक्रामकता की ताक़त ज़्यादा झलकती है—

बरस रहा है अन्धकार...मगर उल्लू के पट्ठे
स्त्रियाँ रिझाऊ कविताएँ लिख रहे हैं

---

1. *समकालीन काव्य यात्रा* : पृष्ठ 187

टोकरी के नीचे छिपे मुर्ग़ों के मसीहा कवि
बाँग दे रहे हैं : सुबह हुई
धन्य-धन्य कवियों की ऐय्याशी झूठ में
लिपटी/वसुन्धरा
(नक़ली कवियों की वसुन्धरा)

इन काव्य पंक्तियों में एक ओर शिष्ट समाज की भाषा टूटी पड़ी है तो दूसरी तरफ़ आक्रामकता और सपाटबयानी के बीच व्यंग्य की एक तीखी आहट मिलती है। श्रीकांत कहते हैं—"कविताएँ साथ छोड़ रही हैं स्त्री की तरह नहीं/छाल की तरह/मुझको नंगा कर" (साथ) यह संशय इसलिए है क्योंकि कवि ने भाषा के सभी माया वस्त्र उतार फेंके हैं। जैसे पेड़ के तने से पुरानी छाल उतरती है।

सपाटबयानी और व्यंग्य की भाषा का इस्तेमाल *मायादर्पण, दिनारम्भ* और *जलसाघर* तक समान रूप से वर्तमान है। इस तरह की भाषा के प्रयोग से कवि सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ की जमकर धज्जियाँ उड़ाता है। इस प्रसंग में श्रीकांत ने कविता के भीतर सैकड़ों ऐसे शब्दों का इस्तेमाल पहली बार किया जो नयी कविता के दौर में एक सिरे से ग़ायब है—

एक कवि दूसरे कवि से/ समय पूछ/ रहा है
वेश्याएँ खुश हैं/ कुत्ते हड़बड़ाकर
उठ आये हैं नालियों से/ भूँक रहे हैं
दर्पण और दर्पण लड़ रहे हैं सड़क पर
क्या उल्लुओं की जगह/ इस रथ में जोत दूँ
दो कुत्ते × × × क्या बागडोर दे दूँ
वेश्याओं के हाथ में?
(हेर-फेर)

देखने में यह अकविता की शब्दावली लग सकती है। पर श्रीकांत के सामने राजनीतिक क्रूरताओं को व्यक्त करने के लिए इन क्रूर शब्दों के अलावा कोई विकल्प नहीं था।

देशभक्त कवियों की/ कविताएँ
(क्षमा करें महिलाएँ)

मैं अपने कमरे में खड़ा हूँ नग्न
(प्रेस वक्तव्य)

चूँकि श्रीकांत क्षोभ, असन्तुलन और अस्वीकार के कवि हैं, इसलिए उन्हें अपनी नाराज़गी व्यक्त करने के लिए हमेशा एक आक्रामक, बेधक और दोटूक भाषा की खोज थी–

मुझको उघाड़कर/ चूतड़ पर बेंत मार
चेहरे पर लिख दो–यह गधा है
तब भी जो जहाँ/ है वही बँधा है
अपनी बेहयाई को सँवारता हुआ चौदह पैसे की कंघी से

(जलसाघर)

इस आक्रामक भाषा में व्यंग्य की ऐसी सधी हुई मार है कि काव्याभिव्यक्ति में स्वतः स्फूर्ति आ जाती है–

दाद हो खुजली हो खाज हो हरेक के लिए/ है
मुफीद/आज़माइये मथुरा का सूरदास मलहम
क्या कहा ? सांडे का तेल? नहीं नहीं
कामातुर स्त्रियाँ लौट जायें, वामाएँ
मैंने गुज़ार दी ऐसे ही लौट जायें
सब अपने-अपने ठिकानों पर
पाप संसार में/ मन्त्री अस्तबल में
पाखण्डी गर्भ में/ अफ़सर ज़िमख़ाने में

(जलसाघर)

काव्यभाषा में आक्रामकता, व्यंग्य और सपाटबयानी की इस त्वरा को देखकर लगता है श्रीकांत भाषा में सेंसर के विरुद्ध हैं। वे चाहते हैं कि उनकी कविता में वह सब कहने की छूट होनी चाहिए जो अब तक हमारी परम्परा की कविता में निषिद्ध रही है। इसलिए काव्यभाषा में वे परम्परा की भाषा को वहीं तक शामिल करने के हिमायती हैं जिस हद तक वह ज़रूरी हो। जहाँ वह नाकाफ़ी हो चुकी है उसे वे परे करते हुए जीवन और रोज़मर्रा के जीवनानुभवों से कविता का पेट भरना माकूल समझते हैं। ज़ाहिर है श्रीकांत की काव्यभाषा को लेकर काफ़ी विवाद है। कुछ लोग उनकी भाषा को अकविता की उपज मानते हैं तो कुछ नैतिक आग्रही समीक्षकों ने इसे अश्लील करार दिया। जबकि सच्चाई यह है कि श्रीकांत की काव्यभाषा में अनेक प्रयोग हैं। वे जब व्यंग्य, विडम्बना के बीच करुणा और दुःख की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हैं जो पता ही नहीं लगता, यह अकविता की भाषा है–

मैं अपनी मार खायी/ पीठ/ सेंक सकता हूँ
धूप में/ बेटियाँ और बहुएँ/ सूप में
अपनी-अपनी/ आयु के/ दाने/बीन/ रही हैं
(मायादर्पण)

औरों के साथ/दग़ा करती है स्त्री
मेरे साथ मैंने दग़ा किया है
(बुख़ार में कविता)

मेरे पास कुछ भी नहीं है/न मेरी कविताएँ हैं
न मेरे पाठक हैं/न मेरा अधिकार है
यहाँ तक कि मेरी सिगरेटें भी नहीं हैं
मैं ग़लत समय की कविताएँ लिखता हुआ
नक़ली सिगरेट पी रहा हूँ
× . ×
मैं एक बासी दुनिया की मिट्टी/ में दबा हुआ
अपने को खोद रहा हूँ
(एक मुर्दे का बयान)

क्या होगा रोने से यह कहकर जमुहाई लेती हुई
सोने को जाती है विधवा
जिसे ठोंकता है दिनभर
चुंगी का दारोग़ा, भैंसों का दलाल
(जलसाघर)

मायादर्पण और *जलसाघर* में करुणा और दुःख की इन अभिव्यक्तियों में व्यंग्य का सम्मिश्रण करके श्रीकांत व्यंग्य के सहारे करुणा की अभिव्यक्ति करते हैं: पर *मगध* में यह व्यंग्य क्षीण हो गया है। उसकी जगह करुणा की एक महीन आवाज़ कविताओं के परिपार्श्व में गूँजती है। ध्यान देने की बात है कि श्रीकांत *मगध* में एक बार फिर अपनी भाषा को तोड़ते हैं। आक्रामक और व्यंग्य के लहज़े को छोड़कर वे बहुत संयत सधी हुई भाषा में गणराज्यों की पतन गाथा बुनते हैं। *मगध* की भाषा में इसीलिए आक्रामकता और दोटूकपन की जगह दुख और करुणा, व्यंग्य की जगह सूक्ष्म संकेत ने ले ली है। परम्परा की जिस भाषा को शिव के धनुष की तरह कवि ने *मायादर्पण* और *जलसाघर* में अपनी अभिव्यक्ति की प्रत्यंचा पर चढ़ाकर तोड़ दिया

था, उसे मगध में फिर पकड़ने की कोशिश झलकती है। दरअसल, इस कोशिश में *मगध* की कविताओं में इतिहासबोध और कालबोध का बड़ा हाथ है। क्योंकि उसकी गम्भीर अभिव्यक्ति में आक्रामक भाषा चल नहीं सकती थी—

सुनो भई घुड़सवार मगध किधर है
मगध से आया हूँ
मगध मुझे जाना है
(मगध)

सोयी है वैशाली/या/मर गयी है/ अम्बपाली
सपने में/ डर गयी है/ डरो मत अम्बपाली
(अम्बपाली)

कराह सकता था
मगर कैसे कराह सकता था
जो कराहेगा/कैसे निबाहेगा
(हवन)

ज़रा सोचो/ उस व्यक्ति के बारे में
जो हस्तिनापुर आता है/और कहता है
नहीं, नहीं यह हस्तिनापुर नहीं हो सकता
(हस्तिनापुर)

सीढ़ियाँ चढ़ रही है
बसन्त सेना/ अभी तुम न समझोगी
बसन्त सेना/ अभी तुम युवा हो × ×
न सीढ़ियाँ/ चढ़ना/ आसान है
न सीढ़ियाँ/ उतरना/ जिन सीढ़ियों पर चढ़ते हैं हम
उन्हीं सीढ़ियों से उतरते हैं हम
(बसन्त सेना)

देखा जाय तो इन कविताओं की भाषा का तापमान काफ़ी उतरा हुआ है। इस भाषा में न पहले जैसा बड़बोलापन है और न पहले जैसी आक्रामकता, न वे शब्द प्रयोग जो परवर्ती काव्य में भरे पड़े हैं। ऐसा लगता है श्रीकांत ने न केवल अभिव्यक्ति पर नियन्त्रण कर लिया बल्कि अपने भीतर की उग्रता और नाराज़गी को निर्वैयक्तिक करुणा और दुःख के मनोलोक में बदल दिया। पर श्रीकांत की

बेचैनी बराबर बदस्तूर है। बल्कि कहना चाहिए वह किसी धीरोदात्त नायक की वाणी जैसा सलूक करती है। ख़ासतौर से इतिहास, संस्कृति और मृत्यु के खण्डहरों में भटकते हुए श्रीकांत की अनुभूति सिर्फ़ करुणा और दुःख की ही भाषा रचती है–

लौटकर सब आयेंगे/सिर्फ़ वह नहीं जो युवा था
(जो युवा था)

डोम मणिकर्णिका से अक्सर कहता है
दुखी मत होओ मणिकर्णिका
दुःख तुम्हें शोभा नहीं देता

डोम इसके सिवा कह भी
क्या सकता है
एक अकेला/डोम ही तो है
मणिकर्णिका में अकेले/ रह सकता है
(मणिकर्णिका का डोम)

जब भी मर्णिकर्णिका जाओगे
एक वृद्ध को/कोने में दुबका हुआ पाओगे
** * * मगर उस वृद्ध को/ कैसे/ विश्वास दिलाओगे*
*कि तुम रोहिताश्व नहीं हो * **
जिसका रोहिताश्व/ मारा गया हो
क्या तुम उसे विश्वास दिला सकते हो
कि तुम रोहिताश्व नहीं।
(रोहिताश्व)

मैं/ बूढ़ा हो चुका हूँ/ जब भी मिलती है कोई कोरी
दीवार/ खड़िया से लिख देता हूँ/ अपना नाम
दूसरे दिन पाता हूँ/ मिटा दिया किसी ने/ इस तरह
जैसे लिखा ही न था/ अब कड़ककर पूछता हूँ

कौन ?
उत्तर मिलता है काल
(दीवार पर नाम)

मृत्यु ने मुझे/ मृत्यु के हवाले कर दिया
(मृत्यु)

कहीं भी होती मुक्तिबोध की मृत्यु
तो भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता/ मुक्तिबोध को
मरना ही था/मृत्यु मुक्तिबोध के प्रारब्ध में
थी

(मुक्तिबोध की मृत्यु)

कहना न होगा कि श्रीकांत ने अपनी कविता की भाषा को उसी तरह तोड़ा, बदला बल्कि ढहा दिया जैसे अपनी कविता को, अपने जीवन को। इसे तोड़ने और ढहाने में उन्हें मोह नहीं घेरता। नयी कविता के दौर में वे अपने समकालीनों के बीच शायद पहले ऐसे कवि थे जिन्होंने अपनी कविता की भाषा को काव्य विकास के साथ दो बार तोड़ा—एक बार *मायादर्पण* में दूसरी बार *मगध* में। आधुनिक कविता में यह दृष्टान्त सिर्फ़ निराला से दिया जा सकता है, जिन्होंने अपनी कविता को छायावाद के दौर में ही तोड़ दिया था। जब उन्होंने *कुकुरमुत्ता* और *गर्म पकौड़ी* जैसी कविताएँ लिखीं। कविता की भाषा के सिलसिले में श्रीकांत का यह अवदान ऐतिहासिक है। जिसका सातवें दशक की कविता में धूमिल की पीढ़ी ने विकास किया। यानी श्रीकांत की काव्यभाषा का बुख़ार और चढ़ा, उतरा नहीं।

श्रीकांत की काव्यभाषा के बरक्स उनका काव्य-शिल्प भी कम दिलचस्प नहीं। वे शमशेर, केदारनाथ सिंह सरीखे कवियों की तरह अपनी काव्य टेक्नीक पर सबसे ज़्यादा ध्यान देने वाले कवि हैं। कई समीक्षकों ने उन्हें शिल्प के चमत्कार का कवि कहा। पर सच्चाई यह है कि शिल्प श्रीकांत के लिए काव्य अभिव्यक्ति को पुरअसर बनाने का ज़रिया है। वे अपने अनूठे काव्य-शिल्प के ज़रिये भाषा को माँजते हैं और पाठक पर सीधा असर डालते हैं। बन्दूक़ की गोली की तरह, ताकि कथ्य का वार ठीक निशाने पर लगे।

अशोक वाजपेयी ने *मायादर्पण* की कविताओं की टेक्नीक के बारे में कहा था "श्रीकांत ने अपना एक ख़ास मुहावरा और टेक्नीक विकसित किया है। शिल्प के सम्बन्ध में आज जैसी व्यापक अराजकता और नासमझी है वैसी शायद ही कभी रही हो। लेकिन श्रीकांत के यहाँ उनके ज़्यादातर युवक समकालीनों की तरह मात्र तात्कालिक युक्तियाँ नहीं : एक सुनिश्चित और सचेत टेक्नीक है। तुक का ऐसा ताज़ा अप्रत्याशित और व्यंग्यपूर्ण इस्तेमाल शायद ही किसी ने किया हो। ...एक गम्भीर कवि के रूप में श्रीकांत अच्छी तरह जानते हैं कि कविता में कहीं भाषा का खिलवाड़ ज़रूरी है। ऐसा खिलवाड़ उनकी कविता में खूब है और बावजूद उसमें निहित व्यंग्य और चरितार्थ भयावह संसार के, वह उनकी कविता को एक

आह्लादकारी गति दे देता है।—एक शब्द से दूसरा शब्द, दूसरे बिम्ब से तीसरा, इस तरह खिलवाड़ से उपजे लगते हैं : खेद है कि श्रीकांत वर्मा इस खिलवाड़ को कई बार संयमित नहीं कर पाते। नतीज़ा यह होता है कि उनकी कविता की ऑर्गेनिक एकता को क्षति पहुँचती है और कई बार ऐसा लगता है कि कविता के आरम्भ या अन्त की कोई अनिवार्यता नहीं है—वह अनियमित और भूगोल विहीन हो जाती है। और उसके कलात्मक मूल्य पर सन्देह होने लगता है।"[1]

ग़ौर करने की बात है कि श्रीकांत अपनी काव्य तकनीक में तुक पर इतना भरोसा क्यों रखते हैं? पहली बात तो यह कि तुक विन्यास कविता की तकनीक का बहुत पुराना धन्धा है। क्या ऐसा करके वे इस धन्धे में शामिल होते हैं? शायद नहीं; क्योंकि उन्होंने कविता की जो नयी भाषा गढ़ी, वह इतनी आक्रामक है कि उसे गति चाहिए थी। ज़ाहिर है इस गति को पाने के लिए वे तुकों का इस्तेमाल बेधड़क करते हैं। *मायादर्पण, दिनारम्भ* और *जलसाघर* में यह तुक विन्यास कुछेक जगहों को छोड़ भी दिया जाय तो बिल्कुल अद्‌भुत है।

मैं अपनी करतूतों का दारोग़ा हूँ
नहीं एक रोज़नामचा हूँ
मुझमें मेरे अपराध
हू-ब-हू कविताओं में
दर्ज हैं/ मर्ज़ है।

(मायादर्पण)

अब यहाँ 'दर्ज' और 'मर्ज़' का तुक विन्यास देखिए। केवल 'दर्ज' है कहा जाता तो कथ्य में वह असर पैदा नहीं होता जो मर्ज़ के साथ बढ़ता है—

धूप में/ बेटियाँ और बहुएँ
सूप में/ अपनी-अपनी/ आयु के/दाने/ बीन रही हैं

(मायादर्पण)

यहाँ 'धूप' में फिर 'सूप' में का तुक-विन्यास क्या सिर्फ़ सायास लाया खिलवाड़ है?

कुछ स्त्रियाँ/ प्रेम करती हैं/ वर्दी से
बाक़ी नामर्दी से

(जीवन बीमा)

---

1. *श्रीकांत वर्मा का रचना संसार* : पृष्ठ 40

यहाँ 'वर्दी' और 'नामर्दी' का तुक विन्यास कितना सटीक है।

तुम जाओ अपने बहिस्त में
मैं जाता हूँ/अपने ज़हन्नुम में
(अन्तिम वक्तव्य)

चले जाओ/चकले पर, टाट पर
ज़हन्नुम में लाट पर
(जलसाघर)

ग़रीब से ग़रीबन, नसीबन से नसीब
बनता है कहता है व्याकरण
(आध घण्टे की बस)

इन उद्धरणों के आलोक में देखें तो श्रीकांत तुकों के ज़रिये अपने कथ्य को दोटूक और बेलाग बनाते हैं। उनकी बेबाकी ही उनके तुकों की जान है। इस परिप्रेक्ष्य में नन्दकिशोर नवल ने काफ़ी विस्तार से श्रीकांत के तुकों के इस्तेमाल और उनके काव्यशिल्प के अनूठे पहलू पर चर्चा की है। वे कहते हैं : "श्रीकांत ने भले इस दौर की अपनी कविता को प्रलाप कहा हो लेकिन वह प्रलाप न होकर एक नये शिल्प की कविता है। जिसकी पंक्तियाँ ऊपर से परस्पर असम्बद्ध और अतिनाटकीय लगती हैं लेकिन भीतर के अर्थ के गहरे सूत्र में परस्पर जुड़ी हुई हैं...। दूसरी बात यह कि इस शिल्प में श्रीकांत ने तुकों के साथ वह किया जिसे आलोचकों ने खिलवाड़ कहा है। नयी कविता में छन्द और तुक समाप्त तो नहीं हो गये थे। लेकिन उनका महत्त्व काफ़ी कम हो गया था। वे कविता में अब भी एक तनाव पैदा करते थे। लेकिन कवियों का ध्यान उनके प्रयोग से तनाव कम करने की तरफ़ से हट गया। श्रीकांत ने तुकों में छिपी अभिव्यक्ति की उस सम्भावना को पहचाना। जिससे विसंगति और विडम्बनापूर्ण स्थिति को बहुत अच्छी तरह से उभारा जा सकता था।" नवल आगे कहते हैं "लेकिन निराला में यह तुक योजना जहाँ मात्र अलंकरण थी वहाँ श्रीकांत ने उससे एक नया काम लिया कि वह शब्द और इसके अर्थ से स्वयं भी बहुत कुछ कहने लगी। कदाचित् उनसे ही प्रेरणा लेकर बाद में धूमिल ने तुक योजना को इतना महत्त्व दिया।"[1]

नवल के इस दिलचस्प विश्लेषण से यह बात साफ़ लगती है कि श्रीकांत की तुकें सायास नहीं बल्कि अप्रत्याशित घटित होती हैं। इन्हीं तुकों से श्रीकांत अपनी कविता में तनाव भरते हैं और कथ्य को दोटूक बनाते हैं। इसलिए यह आरोप सही

---

1. *समकालीन काव्ययात्रा*, पृष्ठ 84-85

नहीं कि ये तुक विन्यास के साथ खिलवाड़ हैं। अगर श्रीकांत के ये तुक उनकी कविता के खेल हैं तो मैं कहना चाहूँगा तुकों का यह विन्यास उनकी कविता के भीतर क्रिकेट की भापा में कहें तो हुकशाट की तरह है जिनके प्रयोग पर श्रीकांत की कविता चूकती नहीं—बल्कि दूसरा कवि जब इन्हीं तुकों को आज़माता है तो प्रायः हिट विकेट या कैच हो जाता है।

श्रीकांत के काव्यशिल्प की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है—विरोध की भाषा का परस्पर सामंजस्य। दो विरोधी वाक्यांशों से कविता में एक नयी बात पैदा करने की कला। इसे भी आप शिल्प का चमत्कार कहेंगे, पर दरअसल यह भाषा की कला का खेल है। जिसे श्रीकांत प्रायः आज़माते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण *जलसाघर* की अन्तिम कविता 'कलिंग' है—

केवल अशोक ने शस्त्र रख दिये हैं
केवल अशोक लड़ रहा था

अगर शस्त्र रख दिये तो लड़ कैसे रहा था। पर वह सचमुच लड़ रहा है, जिसे श्रीकांत शस्त्र रखवा कर बताना चाहते हैं।

एक बिल्ली मुँडेर पर
बैठी हुई/ दूसरी बिल्ली से झगड़ती है
दुकानें खुलती हैं।
(दिनारम्भ)

एक बिल्ली का दूसरी बिल्ली से झगड़ना और दुकानों का खुलना, यह दिवस का आरम्भ है। कहाँ बिल्लियों का झगड़ना, कहाँ दुकानों का खुलना। ऐसी विरोधी स्थितियों को बीच में लाकर श्रीकांत अपनी अथक शब्द साधना और काव्य विवेक के साथ नये काव्य सौन्दर्य का परिचय देते हैं।

श्रीकांत के काव्यशिल्प के सिलसिले उनके प्रतीकों, बिम्बों के प्रयोगों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। कहना चाहिए, उनके प्रतीक और बिम्ब उनकी काव्यभाषा की तरह बहुत समृद्ध हैं। छत्तीसगढ़ के लोकजीवन से लेकर शुद्ध महानगर की जटिल ज़िन्दगी के बीच वे प्रतीकों और बिम्बों को बहुत चतुराई से पकड़ते हैं और अपनी कविता को समृद्ध करते हैं। ऐसे बिम्ब और प्रतीक हिन्दी कविता में पहली बार सामने आये हैं। यौन-बिम्बों का ऐसा सघन रूप उनकी ऐन्द्रिक संवेदना की अचूकता को व्यक्त करता है। यहाँ बिम्बों-प्रतीकों के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

अन्धकार कछुए-सा बैठा है पृथ्वी पर
कछुए पर बैठा है नीला आकाश

इतने बड़े बोझ के नीचे भी दबी नहीं
अंगुल भर घास

(घास)

नदी पर झुकी हुई डाल की छाया
प्यासा एक मृग/ पानी पीने को आया

(नदी पर डाल)

नदी के किनारे कोई आसमान धो रहा है
दुपहर है/महुए का पेड़ सो रहा है।

(दुपहर)

जलाशय पर अचानक छप जाता है
महुए का जाल/ चरकट के कोठे से
उतरती है धूप/ और चढ़ता है दलाल

(दिनचर्या)

दर्पण और दर्पण लड़ रहे हैं/ सड़क पर

(हेरफेर)

अपूर्व/ दिशा के/ नितम्ब पर/ स्खलित
करता है/ अपने शौर्य को
तेजस्वी सूर्य

(दोटूक रास्ता)

नावें कई यात्रियों को/उतारकर
वेश्याओं की तरह/थकी पड़ी
हैं घाट पर

(बुख़ार में कविता)

आँधी में अपने जगहों से उखड़
पड़े हैं दो महुए के पेड़ लिपटकर
सुख के मूर्छित तट पर

(उत्तर प्रेम-३)

चले आये हैं हूण
रोता है भ्रूण
मोह कन्दरा में पड़ा

(हूण)

एक-एक चौरस्ते पर
तोड़ता हूँ/ दम...
सूखे हुए नल के/ नीचे/ जैसे/ कुत्ता
(ग्रैंड ट्रंक रोड)

पंजे-पंजे चलती चाटती है धूप/इस जहान
को/मधुमक्खी बैठी मुँडेर पर/चक्कर
खाकर गिरती है/ घिरती है शाम
(हूण)

हिनहिनाते हुए घोड़े गुज़र कर मेरी धमनियों से
जाकर दम तोड़ते हैं/ सीधे दोआब पर
(विजेता)

काल थके हुए घोड़े की तरह निर्लिप्त चला
जा रहा है
(विजेता)

कुत्ते की तरह प्राग की सड़क से गुज़रता
है टैंक
(वर्षफल)

इन उदाहरणों से ज़ाहिर होता है कि श्रीकांत के काव्य अनुभवों का पाट कितना चौड़ा है। उनकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि वे प्रतीकों और बिम्बों को सिर्फ़ एक बार प्रयोग में लाते हैं। उनके ऐन्द्रिक बिम्ब कितने सघन, जटिल किन्तु अनूठे हैं। इसका उदाहरण सिर्फ़ इन दो कविताओं 'मत्स्यबेध' और 'सिंहद्वार' से दिया जा सकता है—

जंघा पर बैठा है सिंह भुजा पर बाज़
वक्ष पर गरुड़
पैरों में साँप
और नितम्बों पर छाप है
भाप है/ जिसमें हरेक
आकार ले रहा है।
× × ×

गुफा की देहरी पर बार-बार
आ-आकर/ दहाड़ता है सिंह
बाज़ मारता है/ एक के बाद एक
सैकड़ों झपट्टे

गुफा से निकलता है सिंह
और प्रकाश वमन करता है!

(सिंहद्वार)

पैरों पर चढ़ती हैं चीटियाँ
कन्धे पर पंजे गड़ाता है
रीछ/ भुजा पर प्रेमिका
करती है क़ै/ बची रह गयी हैं
मुद्राएँ, सर्प, हाथ, धनुप
और उरोज

(मत्स्यबेध)

कहने की ज़रूरत नहीं कि श्रीकांत ने शिल्प को अपनी कविता की दिशा और दृष्टि के साथ बराबर जाँचा-परखा और जब ज़रूरत हुई तभी उसका इस्तेमाल किया। क्या यह आकस्मिक नहीं है कि जिस *मायादर्पण* और *जलसाघर* की कविताओं तक उन्हें शिल्प के चमत्कार का कवि माना जाता रहा है उसे *मगध* में आकर कवि ने फिर छोड़ दिया। दरअसल श्रीकांत जीवन और कविता में पीछे लौटना नहीं जानते थे। आगे और आगे। वहाँ आगे मृत्यु की खाई क्यों न हो।

9

श्रीकांत वर्मा का कथालोक

श्रीकांत वर्मा मुख्यतः तो कवि हैं लेकिन उन्होंने कविता के समानान्तर कहानियाँ भी लिखीं। *दूसरी बार* जैसा उपन्यास लिखा। जीवन के आख़िरी वर्षों में उन्होंने दो उपन्यास *अश्वत्थ* और *ब्यूक* : 1931, सन् 1985 में लिखना आरम्भ किया था। पर ये दोनों उपन्यास अधूरे रह गये। इन दोनों उपन्यासों के कुछ पृष्ठ ही लिखे जा सके।

देखा जाय तो उनकी कहानियों का रचनाकाल 1955 से आरम्भ होता है। श्रीकांत की पहली कहानी 'बहिनजी' नयी दिशा में प्रकाशित हुई थी। (*नयी दिशा* : अक्तूबर 1955) उनकी कहानियाँ सन् 68 तक प्रकाशित हुईं। लेकिन उसके बाद उन्होंने कोई कहानी नहीं लिखी। उनका पहला कहानी संग्रह *झाड़ी* (1964) में और आख़िरी संकलन *संवाद* (1969) में प्रकाशित हुआ। इन दोनों कहानी संग्रहों और कुछ अन्य असंकलित कहानियों को जोड़कर देखा जाय तो इनकी संख्या छत्तीस है।

सवाल उठता है श्रीकांत ने बाद में कहानियाँ लिखनी क्यों छोड़ दीं? इसका जवाब उनके इस वक्तव्य से मिल जायेगा—"कविता लिखते हुए मेरे हाथ सचमुच काँप रहे थे। तब मैंने कहानियाँ भी लिखनी आरम्भ कीं। यह सोचकर कि रचना से रचना की यह कम्पन कुछ कम होगी। और यह सच है कि मैंने कथा-साहित्य के बतौर जो कुछ लिखा उससे मेरी आत्महीनता कुछ कम हुई : क्योंकि जैसे-जैसे मैं लिखता गया संसार में पैठता गया। संसार में पैठना ही मुक्ति है। प्रवेश गिरफ़्तारी नहीं मुक्ति है। गुलामी है—गमन बहिर्गमन।

"कविताओं ने मुझे जो दुनिया दी थी मेरी कहानी उसी का विस्तार है। उसी का एक और रूप जिसे मैं कविताओं के माध्यम से पहचान नहीं पा रहा था।"[1]

श्रीकांत एक दूसरी भूमिका में स्वीकार करते हैं : "वैसे यह कहना एक

1. *दूसरे के पैर* : कहानी संग्रह की भूमिका : 1984

मुहावरा हो गया है कि मेरी ज़िन्दगी मेरी किताबों के पन्नों में बिखरी पड़ी है। लेकिन मैं अपने विषय में इस बात को बिल्कुल ही चरितार्थ मानता हूँ। मेरी कहानियों का नायक या अनायक वस्तुतः मैं हूँ।"

श्रीकांत के इस वक्तव्य के परिप्रेक्ष्य में उनकी कहानियों का विश्लेषण करें तो पता चलता है उन्होंने कहानियाँ तब लिखीं जब कविता में उसे कहना सम्भव नहीं हो पा रहा था। यानी उनकी कहानियाँ उनकी कविता की पूरक हैं—कविता की क्षतिपूर्ति। लेकिन उनके वक्तव्य को परे कर दें और महज़ कहानियों के आधार पर उनके कहानीकार व्यक्तित्व का विश्लेषण करें तो पता चलता है उस दौर में लिखी श्रीकांत की कहानियाँ अपना अलग से अस्तित्व रखती हैं। उनकी *झाड़ी* और *संवाद* संग्रहों की कहानियाँ पढ़ते हुए एक ऐसे समर्थ कहानीकार की कहानियाँ लगती हैं जो नयी कहानी के दौर में प्रेम से भरे 'खेल के मैदान' से बाहर जाकर ठण्ड, झाड़ी, बास, अरथी और शवयात्रा जैसी सामाजिक यथार्थ की अविस्मरणीय दुनिया रचता है।

अपनी कविताओं के ज़रिये श्रीकांत जिस सामाजिक यथार्थ से जूझ रहे थे उसी के धरातल पर उनकी कहानियों के पात्र भी जूझते हैं। इन कहानियों में 'मैं' की जो उपस्थिति है वह *मायादर्पण* कविता संग्रह के 'मैं' से अलग नहीं। यह 'मैं' जिस तरह सामाजिक जीवन में हताश, पराजित और नाराज़ है, उसी तरह प्रेम जीवन की विफलता से भी हताश और पराजित है। श्रीकांत की कहानियों के संसार पर ग़ौर किया जाय तो वहाँ विशुद्ध महानगरीय जीवन का संसार दिखाई देता है। कहानीकार ने एक ओर टूटते हुए मध्यवर्ग की ज़िन्दगी से जूझने की कोशिश की है तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ के भीतर जूझ रहे निम्नवर्गीय ज़िन्दगी के उन अभिशप्त चेहरों को भी उजागर किया है, जिनका नयी कहानी आन्दोलन में चलन नहीं था। ठण्ड और शवयात्रा जैसी कहानियाँ इसी कोटि की हैं।

श्रीकांत की कहानियों में मोटे तौर पर दो तरह की दुनिया दिखाई पड़ती है, सामाजिक यथार्थ की दुनिया : दूसरा प्रेम के यथार्थ की दुनिया। इन दोनों दुनियाओं पर श्रीकांत की कहानियाँ फ़ोकस करती हैं। जिसके बीच में है—मध्यवर्गीय संवेदना का वह आदमी जो निरन्तर जूझ रहा है।

सामाजिक यथार्थ की इन कहानियों के बारे में श्रीकांत के इस वक्तव्य पर ग़ौर करने की ज़रूरत है, "1960 के आसपास मेरे चारों ओर मृत्यु थी, सिर्फ़ ग़रीबी, भुखमरी और असहायता से उत्पन्न मृत्यु नहीं बल्कि एक ऐसी मृत्यु जिसे सैकड़ों नामों से पुकारा जा सकता है, जैसे कि आत्मनिर्वासन, सामाजिक पलायन, प्रेम विफलता, मूल्यहीन संसार में जीने का एहसास, मानवीय क्रूरता, करुणाविहीनता, चारो ओर 'मारो' का या मार दिया गया का शोर। और इन सबके बीच एक निर्दोष

बौद्धिक रचना करने के लिए मैं और मेरे चारों ओर की परिस्थितियाँ यही थीं।"[1]

ज़ाहिर है इन्हीं क्रूर और हैरतअंगेज मनःस्थितियों के बीच श्रीकांत ने अपनी कहानियाँ लिखीं। उनकी सामाजिक *यथार्थ* की कहानियाँ इसी निर्मम संसार की तल्ख़ अभिव्यक्तियाँ हैं। *झाड़ी* और *संवाद* संग्रहों में सामाजिक यथार्थ की ऐसी कहानियाँ मौज़ूद हैं जो नयी कहानी के ढाँचे को तोड़कर कहानी विधा को सामाजिक कर्म की अभिव्यक्ति बनाती हैं। ऐसी कहानियों में झाड़ी, घुटन, घर, शवयात्रा, ठण्ड, वास, संवाद, ट्यूमर, रिपोर्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रीकांत की इन सामाजिक कर्म की कहानियों को समझने के लिए उनकी *झाड़ी* जैसी महत्त्वपूर्ण कहानी विशेष महत्त्व रखती है। यह झाड़ी क्या है? एक मध्यवर्गीय परिवेश के आदमी की विवशता या उसका विद्रोह, उसकी निजी पीड़ाएँ या व्यवस्था का सार्वजनिक अन्धकार? ज़ाहिर है यह झाड़ी आज़ादी के बाद उपजे एक संवेदनशील, मध्यवर्गीय संवेदना के मनुष्य के मोहभंग की कहानी है, जहाँ झाड़ी उसकी नियति बन जाती है। वह विद्रोह करने में अपने को असमर्थ पाता है : क्योंकि उसके चारों तरफ़ परिस्थितियों की झाड़ी उसे कस लेने के लिए आतुर है। कहानी में नायक की विवशता यह झाड़ी हैं, जिससे बाहर निकलने का वह निरन्तर प्रयत्न करता है। पर निकल नहीं पाता। इस कहानी का प्रारम्भ नायक के बचपन की विवशताओं भरे मानसिक असमंजस से शुरू होता है। जब वह अपने संवयसियों के साथ खेल में झाड़ी लाँघ नहीं पाता था। उसकी मनःस्थिति का यह वर्णन देखने लायक़ है : "बचपन में उसके घर के चारों ओर एक काँटों की झाड़ी थी जिसे उसके हमजोली छलाँग मारकर पार कर लिया करते थे। ...वह कई बार दूर से दौड़ता हुआ आता और आँखें मूँद लेता और प्रयत्न करता कि उछलकर छोटी-सी वह झाड़ी लाँघ जाये। पर हर बार एक अनजाने भय से उसका मन भर जाता उसे लगता कि उसने ज़रा भी छलाँग मारने के कोशिश की तो बीच में उलझ जायेगा, और उसका शरीर काँटों से लहूलुहान हो जायेगा। काँटों में फँसने के ख़याल से उसे रोमांच हो जाता और वह पाता कि वह दौड़ता हुआ आकर झाड़ी के समीप रुक गया है और उसके पैर काँप रहे हैं...। हार कर उसने अपने हमजोली से कहा कि वह उसे उस ओर फेंक दें।"[2]

बचपन में झाड़ी को लाँघ न पाने की यह विवशता नायक का जीवन भर पीछा करती है। वह सामाजिक व्यवस्था से विद्रोह तो करना चाहता है पर परिस्थितियों की यह झाड़ी हर बार उसे दबोच लेती है। वह जिस व्यवस्था में नौकरी कर रहा है वह उसके लिए नाकाफ़ी है। वहाँ की घुटन उसे अलग करने के लिए मथती है। लिहाज़ा वह तय करता है कि आज वह अपना इस्तीफ़ा दे देगा? वह

---

1. *ठण्ड* की भूमिका : 1985
2. *झाड़ी* : श्रीकांत वर्मा रचनावली-2, पृष्ठ 76

सोचता है "वह अपने आपको नष्ट कर रहा था और अब कतई इस प्रवाह में बहते जाना नहीं चाहता था। कहीं-न-कहीं अपने पैर टेकने होंगे और खड़ा होना होगा, फिर इस प्रयत्न में वह चाहे–उखड़ ही क्यों न जाये। एक बार ललकारना ही होगा। अपनी तमाम शक्ति के साथ। अगर नष्ट होना ही है तो स्वयं अपने को नष्ट करना होगा।"[1] इस निश्चय के साथ एक दिन अन्ततः वह इस्तीफ़ा दे देता है। और तुरन्त घर लौटता है ताकि अपनी पत्नी उमा को बता सके कि वह झाड़ी से बाहर निकल आया है। पर पत्नी को जब यह पता चलता है कि उसने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया है। वह घबरा कर कहती है–"क्या तुम सचमुच काम छोड़ आये हो?"

पत्नी का यह प्रश्न 'मैं' को हिला देता है। वह झाड़ी से बाहर आकर अपने को आज़ाद अनुभव कर रहा था। पर पत्नी की यह झिड़की उसे फिर उसी झाड़ी में क़ैद होने के लिए विवश करती है। वह पत्नी से झूठ बोलता है–"नहीं, मैं केवल मज़ाक़ कर रहा था।"

वह तुरन्त दफ़्तर लौटता है और अपने बॉस से इस्तीफ़ा वापस लेकर टुकड़े-टुकड़े कर देता है। और फिर...कहानीकार लिखता है–"वह अपनी मेज़ की ओर बढ़ा और अपनी कुर्सी पर अपने को फेंक दिया।" देखा जाय तो यह कुर्सी ही वह झाड़ी है जहाँ से वह मुक्त होना चाहता था पर फिर यही झाड़ी उसे फिर कस लेती है। उसके भीतर का विद्रोह विफल होता है। इस विफलता की वजह वह झाड़ी है जिसे वह बचपन में भी नहीं लाँघ सका था।

इस कहानी पर डॉ. इन्द्रनाथ मदान की टिप्पणी है–"आधुनिकता का बोध झेलने में ही हो सकता है और जूझने में भी है और न हो सकने में भी हो सकता है–और है, और न हो पाने में भी। श्रीकांत वर्मा की कहानी में है और न हो सकने के तनाव को आँका जा सकता है। इनकी झाड़ी इसका संकेत देती है–'जब उसने उसे फेंक दिया तो पाया कि वह झाड़ी में जा पड़ा था और काँटों से उसका शरीर छिल गया था। मगर वह दर्द से अधिक शर्म और शर्म से अधिक किसी भी कीमत पर न पार कर सकने की नियति पर रो रहा था'। वह जान गया था कि वह झाड़ी कभी लाँघ नहीं सकेगा।" झाड़ी कहानी में नायक की इस नियति को देखकर मदान इसे आधुनिक बोध की कहानी मानते हैं। पर क्या यह कहानी सिर्फ़ एक आधुनिक भावबोध की कहानी मात्र है। अगर नायक की अनिर्णयात्मकता आधुनिक मन की अभिव्यक्ति है तो फिर झाड़ी के विरुद्ध नायक का विद्रोह सिर्फ़ एक निगेटिव विद्रोह है? या यह विद्रोह आज़ादी के बाद व्यवस्था के अँधेरे के ख़िलाफ़ एक संवेदनशील मनुष्य की छटपटाहट है। मेरा ख़याल है आज़ादी के बाद की व्यवस्था के यथार्थ से जूझने वाली यह कहानी आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी 60 के आसपास

---

1. *झाड़ी*, पृष्ठ 79

थी। आज भी व्यवस्था में शामिल मनुष्य की हालत झाड़ी जैसी ही है। वह झाड़ी की पकड़ से बाहर नहीं निकल सका है।

यह झाड़ी श्रीकांत के मन की झाड़ी है जिससे बाहर निकलने की वे लगातार कोशिश कर रहे थे। झाड़ी से बाहर निकलने की छटपटाहट, 'घुटन' के उस नायक में साफ़ है जहाँ एक शिक्षक व्यवस्था की स्थितियों से ऊबकर अपने विरोधी की हत्या कर देता है और अदालत में अपना अपराध क़बूल कर लेता है। यहाँ झाड़ी की घुटन से मुक्ति पा लेता है। वह कहता है—"हम लोग जीवन भर दर्शन और मनोविज्ञान का अध्ययन और अध्यापन करते हैं। मगर इस साधारण से तथ्य पर विचार नहीं करते कि आदमी जितनी सहजता से उन पर अपना हस्ताक्षर करता है उतनी ही सहजता से उसके परिणामों को झेल नहीं पाता।

"मेरे साथ भी यही हुआ। हत्या करते समय और अपराध स्वीकार करते समय मुझे इस बात का ज़रा भी भान न था कि अभी दूसरे ही क्षण मैं एक भिन्न व्यक्ति हो जाऊँगा, जिस मृत्यु दण्ड की कल्पना मैंने इतनी सहज की थी, वह मेरी आत्मा पर एक ठण्डे अँधेरे की तरह छा जायेगी और सारा संसार मुझे, मेरे ही सामने अस्त होता नज़र आयेगा। यही हुआ। शायद यही होना था।"[1]

घुटन में नायक द्वारा हत्या की स्वीकारोक्ति उसे झाड़ी का कायर नहीं बनाती बल्कि उसे विद्रोही बनाती है। श्रीकांत के व्यक्ति का यह विद्रोह आधुनिक मनुष्य का सिनिसिज़्म नहीं बल्कि एक उत्कट नैतिक साहस से भरा हुआ विद्रोह लगता है। जहाँ वह दूसरे को मारकर जीना नहीं चाहता है, बल्कि वह भी दुनिया के साथ मरना चाहता है।

उसके विद्रोह की यही अनुगूँजें *रिपोर्ट, बास* और *संवाद* में भी सुनाई पड़ती हैं, जहाँ 'मैं' लगातार विद्रोह, असहमति और अस्वीकार की स्थिति में अपने को पाता है। रिपोर्ट कहानी का रिपोर्टर घटनाओं के पीछे सत्य और नैतिकता की खोज में भटकता हुआ अपनी पत्रकारिता नहीं कर पाता। संवाद में वह अपने 'बास' से इस लिए परेशान है क्योंकि वह बास का 'यस मैन' नहीं है। जबकि बास कहानी में वह अपनी पत्नी के इस्तेमाल कर लिये जाने से भयभीत है। वह अपनी पत्नी को समाज में एक हैसियत देना चाहता है लेकिन दूसरी तरफ़ वह भयभीत है कि उसकी पत्नी का लोग ग़लत इस्तेमाल न कर लें।

इन कहानियों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि इनमें एक मध्यवर्गीय संवेदना के शहरी मनुष्य की ज़िन्दगी के यथार्थ को पकड़ने की कोशिश झलकती है। जिसका नायक कहीं दूसरे के ख़िलाफ़, तो कहीं स्वयं के ख़िलाफ़

---

1. घुटन : श्रीकांत वर्मा रचनावली-2, पृष्ठ 31

संघर्ष करता है। लेकिन ये निर्मल वर्मा की कहानियों की तरह व्यक्तिवाद की कहानियाँ नहीं हैं, बल्कि उस व्यक्ति की कहानियाँ हैं जो 'कामन मैन' नहीं है बल्कि महत्त्वाकांक्षी है। इसी महत्त्वाकांक्षा ने उसे नैतिक, संशयी, द्वन्द्वग्रस्त, विद्रोही और अकेला बनाया है। पर उसके इस अकेलेपन से विद्रोह की आग हमेशा जलती रहती है।

शायद विद्रोह की इसी आग ने श्रीकांत को घर, ठण्ड, अरथी और शवयात्रा जैसी कहानियाँ लिखने की प्रेरणा दी। देखा जाय तो इन कहानियों का संसार समाज का निम्नवर्गीय परिवेश है जो शहरों में रहता है। इन कहानियों के ज़रिये श्रीकांत ने आम आदमी की उस आवाज़ को पकड़ने की कोशिश की है जिसे नयी कहानी आन्दोलन भुला चुका था। इन कहानियों में आम आदमी के यथार्थ और उनके स्वप्नों का जैसा सटीक, निर्मम और मर्मस्पर्शी वर्णन श्रीकांत ने उपस्थित किया है उनसे पता लगता है यथार्थ को लेकर उनकी दृष्टि कितनी साफ़ थी। शायद ही नयी कहानी के दौर में इस तरह के यथार्थ से भिड़ने की कोशिश की गयी हो। श्रीकांत न केवल निम्नवर्ग के यथार्थ को पकड़ने में सिद्धहस्त हैं बल्कि यथार्थ को कहानी की कला के साथ कैसे उपस्थित किया जाय ठण्ड, *घर* और शवयात्रा जैसी कहानियाँ इसके प्रमाण हैं।

ठण्ड हालाँकि शहरी ज़िन्दगी में गुज़र-बसर करने वाले एक साधारण परिवार की गाथा लगती है लेकिन इस कहानी का यथार्थ शहर से लेकर कस्बे और गाँव में भी देखा जा सकता है। इस कहानी में केवल सर्दी के मौसम का ज़िक्र नहीं है, बल्कि एक साधारण आदमी की ज़िन्दगी में कितना ठण्डापन भर गया है, इसके गहरे अर्थ संकेत शुरू से आख़ीर तक कहानी के ब्योरों में भरे पड़े हैं। महानगर की ज़िन्दगी में पिसता हुआ आम आदमी अगर परिवार के साथ घूमने की कल्पना कर सकता है तो उसकी हदें क्या हैं, उसकी बेचारगियाँ क्या हैं, वह ख़रीदने के नाम पर सिर्फ़ चीज़ों को देख भर सकता है। ठण्ड कहानी के पुरुष स्त्री और उनके तीन बच्चे इस बेचारगी के गवाह हैं। इस मार्मिक कहानी के बहाने कहानीकार ने ठण्ड को गहरे अर्थों में व्यवस्था के ठण्डेपन से जोड़ने की कोशिश की है, जिसमें आम आदमी के सुख चिथड़े हो गये हैं। यदि एक ओर ठण्ड एक औसत आदमी के सुख की कहानी है तो दूसरी तरफ़ उसके दुःख की भी कहानी है।

लगभग यही बात घर कहानी में भीख माँगने वाले दम्पति की भी है। शहरी ज़िन्दगी में ज़ोरों की बारिश के बीच यह दम्पति रहने की ठौर तलाश रहे हैं। पुरुप अन्धा है। पत्नी के सहारे भीख माँगकर ज़िन्दगी जी रहा है। दिलचस्प बात यह है कि इस दलित वर्ग की ज़िन्दगी को उजागर करते हुए श्रीकांत उनकी ग़रीबी और असहायता का ज़िक्र नहीं करते सिर्फ़ स्थितियों को उजागर करते हैं कि वे इस बारिश में कैसे रात गुज़ारें। यानी उन्हें एक घर की तलाश है—जहाँ वे खाना बना सकें

और रात गुज़ार सकें। इस कहानी में श्रीकांत ने जिस बारीक सन्तुलन से अन्धे भिखारी और उसकी स्त्री का वृत्तान्त दर्ज़ किया है वह उनकी अचूक जीवन-दृष्टि और कहानी कला का अद्भुत उदाहरण है। बूढ़े भिखारी के पेट की भूख और सेक्स तृप्ति का जो बेलौस वर्णन है, वह अद्वितीय है।

शवयात्रा तो शायद दलित सौन्दर्य शास्त्र और दलित प्रेमगाथा की एक ऐतिहासिक कहानी है। ग़ौर करने की बात है कि यह कहानी 1963 में लिखी गयी थी। जब हिन्दी में दलित चेतना का कहीं ज़िक्र नहीं था। लेकिन इस कहानी ने जैसे कहानी के भविष्य के सच से साक्षात्कार किया हो।

शवयात्रा सामाजिक यथार्थ की एक जीवन्त कहानी है, साथ ही दलित जीवन की एक महान् प्रेमगाथा है। देखा जाय तो यह मैला गाड़ी हाँकने वाले बंसीलाल की असफल प्रेमगाथा है। बंसीलाल इमरती बाई से प्रेम करता है। पर इमरती बाई उसे इसलिए पसन्द नहीं करती थी क्योंकि वह मेहतर और कुरूप था। इमरती बाई के दर्ज़नों दीवाने थे। पर इमरती बाई के दीवाने उस दिन रफ़ूचक्कर हो गये, जब इमरती बाई की गुमनाम मौत होती है। उसका कोई वारिस नहीं। लेकिन कहानी का अन्त जितना मार्मिक और असाधारण है वह बंसीलाल के प्रेम का विराट रूप है, जब वह इमरती बाई का ख़ुद वारिस बनता है। उसकी लाश को भैंसा गाड़ी में ख़ुद लादता है और श्मशान में जाकर उसकी क़ब्र खोदता है।

इस मार्मिक प्रेमगाथा पर श्रीकांत की यह टिप्पणी देखने लायक़ है : "क्या विडम्बना है कि शवयात्रा के बंसीलाल की मुलाक़ात कथा नायिका इमरती बाई से उसकी मृत्यु के बाद सम्भव हुई। लेकिन मैंने इमरती बाई को कितनी बार देखा है इसका पता मुझे शवयात्रा लिखकर ही चला। सच्चाई यह है कि इमरती बाई मेरे अन्तर्मन (साइके) में हमेशा से मौज़ूद थी। मैंने उसे कहानी लिखकर ढूँढ़ निकाला। यदि न ढूँढ़ पाता तो यह मेरी एक ग्रन्थि बन जाती।"[1]

इस कहानी में दलित जीवन के सौन्दर्य को पकड़ने की पहली बार कोशिश झलकती है, जिसमें मेहतर बंसीलाल वाल्मीकि के प्रेमशास्त्र की विडम्बना को पकड़ने की एक ओर सार्थक कोशिश है तो दूसरी ओर एक साधारण आदमी के भीतर छिपे महान् प्रेम को मूर्त करने की आकांक्षा भी प्रकट होती है। दरअसल शवयात्रा जैसी कहानी दलित समाज की प्रेमकथा का एक अविस्मरणीय अध्याय भर नहीं है, बल्कि हिन्दी में दलित साहित्य के सौन्दर्य शास्त्र का माडल भी है।

श्रीकांत की सामाजिक यथार्थ की कहानियों के बरक्स उनकी प्रेम कहानियों को, अगर उन्हें प्रेम कहानियाँ माना जाय तो कहा जा सकता है कि उनकी प्रेम कहानियाँ उनकी प्रेम कविताओं की तरह दिलचस्प हैं। जिन बातों, जिन पात्रों को

---

1. ठण्ड की भूमिका, 1985

वे कविता में बयान नहीं कर सकते हैं लगता है ये प्रेम कहानियाँ उन्हीं का विस्तार हैं। अव्वल तो ये प्रेम कहानियाँ प्रचलित अर्थो में प्रेम कहानियाँ नहीं हैं। जैसा कि कहानीकार ने स्वयं कहा है—"मेरी प्रेम कहानियाँ प्रचलित अर्थो में प्रेम कहानियाँ नहीं हैं। उनमें वह आह्लाद नहीं है (रोमेंटिक कथाकारों जैसा) तथा वह त्रासदी नहीं है (देवदास जैसी) जो कि पाठक को भाव विह्वल करती है। मेरी प्रेम कहानियों में एक तरह का द्वन्द्व है, शंका है, अविश्वास है और अस्तित्व से उत्पन्न प्रश्न है। मेरी प्रेम कहानियों के स्त्री-पुरुष अनिश्चय के युग में रह रहे हैं और उनके लिए निश्चय कर पाना यदि सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इन पात्रों के विधाता के रूप में मैंने उन्हें एक विशेष भूमिका सौंपी है और उनकी भूमिका उनकी बनावट के लिए ज़िम्मेदार हैं। दूसरे शब्दों में मेरी प्रेम कहानियाँ एक प्रयोगशाला हैं जिनमें मैंने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर प्रयोग किया और जो परिणाम आये वे सामने हैं।"[1]

इस वक्तव्य के परिप्रेक्ष्य में श्रीकांत की प्रेम कहानियों का जायज़ा लिया जाए तो कहा जा सकता है कि ये विशुद्ध प्रेम की कहानियाँ नहीं हैं बल्कि प्रेम के संसार में पैदा हुए विडम्बना, विसंगति, ऊब, अकेलेपन, पछतावे की अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनको नायक झेल रहा है। ज़ाहिर है इन सारी मनःस्थितियों के पीछे प्रेम की विफलता है। इसलिए इसे श्रीकांत की विफल प्रेम गाथाएँ भी माना जा सकता है। जैसाकि श्रीकांत स्वीकारते हैं—"कहने को तो वे प्रेम कहानियाँ थीं लेकिन वे प्रेम कहानियाँ न होकर प्रेम करने में असमर्थ स्त्री-पुरुष के प्रेम के उपक्रम को लेकर लिखी गयी कहानियाँ थीं। उस समय भी इन कथाओं पर टिप्पणी की थी। ये प्रेम की प्रक्रिया की कहानियाँ हैं—उन अनिर्णीत स्त्री-पुरुषों की कहानियाँ जो प्रेम के बावजूद अकेले हैं। अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद जो अपने को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाते हैं।"[2]

श्रीकांत ने अपनी एक कविता में कहा है कि 'प्रेम अकेले होने का एक ढंग है।' उनकी इन प्रेम कहानियों से गुज़रते हुए लगता है कि ये प्रेम में अकेले होने की नियति की कहानियाँ हैं। इनके नायक भी निर्मल वर्मा के प्रेम-पात्रों की तरह अकेले होने की नियति से अभिशप्त हैं।

झाड़ी और *संवाद* में संकलित प्रेम कहानियों का विश्लेषण करते हुए इस अभिशप्त नायक का चेहरा बार-बार झलक उठता है। स्वयं से परास्त अपनी प्रेयसी से नाराज़ दरअसल वह स्वयं को जैसे ढूँढ़ रहा है—"मैं एक भागता हुआ दिन हूँ और रुकती हुई रात।" इन प्रेम कहानियों को पढ़ते हुए श्रीकांत की वे प्रेम कविताएँ भी याद आती हैं जिनमें पुरुष स्त्री से बदला लेता है। कई कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें

1. वही
2. वही, भूमिका : 1985

वह बदला लेने का रिवाज़ भूला नहीं है। टोर्सो, लॅ-बोहीम, खेल का मैदान, परिणय, साथ, दूसरे का पैर, लड़की, प्रस्थान, कल, ट्यूमर, प्रेमपत्र, प्रसंग, प्रमाण ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें प्रेम का संसार तना हुआ है, जहाँ 'मैं' एक सधे अन्दाज़ में प्रवेश करता है और नायिकाओं से अपने प्रेम सम्बन्धों की नियति को लेकर बहस करता है। लोग कहते हैं प्रेम में बहस फ़िजूल है। पर श्रीकांत ऐसे कहानीकार हैं जो अपनी प्रेम कहानियों में शुरू से लेकर अन्त तक बहस करते हैं। इस बहस में उनके 'मैं' की असफलताएँ, असुरक्षा और भय बोलते हैं। ग़ौर करने की बात है कि श्रीकांत का 'मैं' प्रेम में अपने को पूर्ण समर्पित नहीं कर पाता, बल्कि वह बराबर असुरक्षा के भाव से दबा आने वाले कल के बारे में सोचता है।

आख़िर लॅ-बोहीम की नायिका शेवन्ती में ऐसी क्या कमी है कि नायक उसे पाने से न केवल झिझकता है बल्कि उसे अन्त में कमरे से बाहर चले जाने के लिए कह देता है। वह शेवन्ती को चाहता भी है और नहीं भी चाहता है। उसके चाहने में एक गहरा अनिर्णय है जो अन्त तक बरक़रार है। जबकि खेल के मैदान में मिलने वाली लड़की के साथ भी अन्त में यही घटित होता है। वहाँ भी वह उसे पाने और खोने के बीच में बेचैन है। परिणय की उर्मि के साथ कहानी के नायक सन्तोष का यही सलूक है। वह उर्मि को चाहता है किन्तु उर्मि जब उससे मिलती है तब वह उसे आहत करता है। जब वह सम्भोग के लिए तैयार नहीं होती तो वह उससे बलात्कार करने की बात करता है और विफल होने पर अन्त में उसे घर से बाहर कर देता है। फिर दूसरी बार जब उर्मि सड़क पर मिलती है तो वह फिर उसे पाने की कोशिश करता है। एक स्त्री को पाने और न पाने की खीझ यहाँ भी मौज़ूद है।

साथ कहानी में भी रति की कपिल से यही शिकायत है। यहाँ भी एक पुरुष एक स्त्री को बलपूर्वक पाना चाहता है—"उसने बलपूर्वक उसे अपनी ओर खींचा और देखा रति प्रतिरोध कर रही थी। इसे प्राप्त करना ही होगा। इन सबका अकेला इलाज शायद यही है कि वह उसे पूरी तरह पा ले।

रति निढाल होकर उसके सीने पर पड़ गयी थी और भुनभुना रही थी, इच्छा के विरुद्ध जो चाहो सो कर सकते हो।"[1]

जबकि दूसरे के पैर प्रेम में अभिशप्त एक नायक के अकेलेपन की कहानी है, जो जीवन में शशि को पाना चाहता है, पर रहता है उससे दूर, अकेले दूसरे शहर में। लेकिन अपने दोस्त अविनाश के कहने पर वह शशि को लाने के लिए तैयार होता है। स्टेशन पहुँचता है। कुली सामान लेकर खड़ा है। पर वह फिर उसी अनिर्णय का शिकार होता है। ट्रेन चली जाती है। वह एक भयानक शून्य में पड़ा तड़फड़ा रहा है। उसके अकेलेपन की मनःस्थिति को कहानी के अन्त में इस तरह दर्ज किया

---

1. *साथ* : श्रीकांत वर्मा रचनावली, पृष्ठ 125

गया है : "प्लेटफार्म सूना हो गया था और वह जैसे अपनी जगह से चिपका हुआ खड़ा था। उसने अनुभव किया, वह बिल्कुल अकेला है और वह ज़िन्दगी में पहली बार सचमुच रो रहा था।"[1]

प्रस्थान की रमा की परेशानी भी यही है। वह 'मैं' को छोड़कर जाना चाहती है। लेकिन वह प्रेमवश 'मैं' को नहीं छोड़ पाती। लेकिन अन्त में वह उससे पूछती है 'आख़िर क्या चाहते हो तुम' जिसका 'मैं' के पास कोई जवाब नहीं है। लगभग यही सवाल ट्यूमर की प्रभा और प्रसंग की उर्मि के पास भी है। पर कहीं भी नायक प्रेम की दुनिया में निर्णीत मुद्रा में नहीं दीखता।

जब प्रसंग की उर्मि नायक के हाथों विवस्त्र होती हुई पूछती है, 'मुझे छोड़ेंगे तो कभी नहीं?' तब नायक सोचता है 'जैसे उसका प्रश्न मेरे अन्दर उछलकर बाहर आ जाता था जैसे यह मेरा अपना ही सवाल हो।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीकांत की इन प्रेम कहानियों में 'मैं' हमेशा एक प्रतिशोधी नायक की मुद्रा अपनाकर जैसे इन प्रेमिकाओं से अपना कोई पुराना हिसाब चुका रहा है। इसलिए वह हर कहानी में बदला लेता है। स्त्री को पराजित और नीचा दिखाना चाहता है। लगता है नायक गहरे स्तर पर 'सैडिज़्म' की प्रतिहिंसा से ग्रसित है। यद्यपि उनके जीवन में संकट अर्थ के हस्तक्षेप का है, जिससे वह जूझ रहा है, लेकिन बदला लेता है अपनी प्रेयसियों से। बदला लेने का यह रिवाज़ श्रीकांत की कविताओं में भरा पड़ा है। कहानियों में भी उनका स्त्री के बारे में नज़रिया सह अस्तित्व का नहीं बल्कि पुरुष के आधिपत्य का है। इसलिए निश्चित रूप से ये कहानियाँ प्रेम की वे कहानियाँ नहीं हैं जिनका मिजाज़ रोमैंटिक है। बल्कि यह प्रेम कहानियों में एण्टी रोमैण्टिक आवेग को शामिल करने का प्रयोग है। श्रीकांत वर्मा की प्रेम कहानियों के सिलसिले में बच्चन सिंह की यह टिप्पणी सटीक लगती है : "श्रीकांत वर्मा की कहानियों को ट्यूमर, प्रेम-ट्यूमर की कहानियाँ कहा जा सकता है। किन्तु यह ट्यूमर प्रेम के चारों ओर चक्कर लगाता है। इनमें स्थिति की अनिर्णयात्मकता, एक चिन्ता का अभाव, बेचैनी आदि। वह झाड़ी को लाँघ भी नहीं पाता। ज़िन्दगी को जीना चाहकर भी प्लेटफार्म पर चिपका रह जाता है, न जीता है न मरता है।"[2]

जबकि नामवर सिंह की दृष्टि में "श्रीकांत की कहानियाँ बहुत ही तथ्यात्मक ... छोटे-छोटे वाक्यों में समाप्त होने वाला गद्य और बड़ी निर्ममता से किसी समाज की अमानवीयता को उद्घोषित करने वाली कहानियाँ हैं। इस समाज में बढ़ती हुई आपसी सम्बन्धों की और परिस्थितियों की जो अमानवीयता है, अमानुषिकता है, उसकी

---

1. *दूसरे के पैर* : वही रचनावली, पृष्ठ 135
2. *आधुनिक साहित्य का इतिहास*

क्रूरता है उसको बड़ी निर्ममता से श्रीकांत ने अपनी कहानियों में चित्रित किया है।"[1]

श्रीकांत की कहानियाँ अगर नयी कहानी में मील का पत्थर न भी साबित हों, फिर भी नयी कहानी के दौर में एक-दूसरे दौर की कहानी-यात्रा की आहट ज़रूर हैं, जिसे सातवें दशक में ज्ञानरंजन अपनी पीढ़ी के साथ आरम्भ करते हैं।

दूसरी बार श्रीकांत वर्मा का अकेला उपन्यास है जहाँ उसका 'मैं' पूरा-का-पूरा निर्वसन हुआ है। बिन्दो की ज़िन्दगी के दर्पण में वह अपने प्रेम और सेक्स की विफलता से उपजे हीनताबोध को तोड़-फोड़कर अपना मार्ग प्रशस्त करता है। पर क्या वह अपनी हताशा हल कर सका? यह सवाल पाठक के सामने मुँह बाये खड़ा है। उपन्यास का अन्त फ़िलहाल यही सूचना देता है। उस नायक की स्थिति देखिए : "ज़रा दूर चलकर मैं एक पत्थर पर बैठ गया। वह मुझसे सटकर बैठ गयी। 'तुम थक गये हो' उसने मेरे कन्धे पर अपना सिर रख दिया था। 'तुम बिल्कुल थक गये हो' उसने कहा और उसने मुझे जकड़ लिया ठीक अमरबेल की तरह। मैं उसे नहीं देख पा रहा था और वह मुझे नहीं, अँधेरे में दूसरी ओर मुँह फेर, बायें हाथ से अपना सीना पकड़े, मैं ओक रहा था।"[2]

मैं और बिन्दो नाम की स्त्री की ज़िन्दगी, जिसे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आधारित भी कहा जा सकता है, पर एकाग्र यह उपन्यास श्रीकांत की एक विफल प्रेमगाथा तो है ही, उससे बढ़कर यह विफल कामगाथा भी है। यानी पहली बार वह बिन्दों से काम-युद्ध में विफल हो जाता है फिर एक लम्बे अन्तराल के बाद वह दूसरी बार बिन्दो को काम-युद्ध में पराजित कर जैसे अपने पुरुषत्व की पताका गाड़ना चाहता है। संक्षेप में, उपन्यास की कथा इतनी-सी है। पर श्रीकांत बहुत कलात्मक संयम के साथ इस उपन्यास में दृश्यों, घटनाओं का ब्योरा देते हैं। और अन्त में 'मैं' के 'दूसरी बार' की सफलता का बखान करते हैं।

सवाल उठता है *दूसरी बार* का कथ्य क्या सिर्फ़ इतना ही है कि यह सेक्स प्रतिहिंसा में जलते हुए एक युवक की पराजय-जय गाथा भर है। या इसका कोई सामाजिक सरोकार भी है? ज़ाहिर है *दूसरी बार* के स्थापत्य के पीछे आज के नौजवान की न तो बेरोज़गारी की समस्या है और न पेट की भूख की। दरअसल, यह यौन वर्जनाओं की चिन्ता से उपजे हुए एक युवक के यौन-विद्रोह का उपन्यास है जो दिल्ली जैसे महानगर की ट्रैजेडी से पैदा हुआ है। इसका नायक एक हारा, यौन-प्रतिशोध में जलता हुआ युवक है। दिल्ली जैसे व्यस्त जीवन में उसकी एक

---

1. *कहानी, नयी कहानी*
2. *दूसरी बार* : रचनावली वही, पृष्ठ 343

नितान्त निजी किस्म की दुनिया है जहाँ ऊब और घुटन का दमघोंटू वातावरण चारों तरफ़ फैला हुआ है। इसी परिवेश के बीच नायक के जीवन में बिन्दो नाम की लड़की का प्रवेश होता है। नायक जितना संवेदनशील और अन्तर्मुखी है उसी के बरक्स बिन्दो शहराती संस्कृति की चालाक, असंवेदनशील और प्रेम को वस्तु मानकर अपने शरीर को महज़ एक 'जिन्स' मानने वाली लड़की है।

दूसरी बार के नायक की ट्रैज़ेडी यह है कि वह बिन्दो को अच्छी तरह जान लेने के बावजूद उसके प्रेमजाल में फँसता जाता है। वह बार-बार उससे अपना बचाव भी करना चाहता है पर उसकी भावुकता और बिन्दो के गठे हुए शरीर का वैभव उसे मुक्त नहीं कर पाता। उसकी ज़िन्दगी में बिन्दो इस तरह हावी है कि वह भविष्य के बारे में कुछ भी सोचने में असमर्थ है। इसलिए पूरे उपन्यास में वह बिन्दो के हाथ एक बिका हुआ विवश कथानायक लगता है जिसकी ज़िन्दगी का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। इसी लक्ष्यहीनता के चलते वह बिन्दो की प्रेमजनित सेक्स ग्रन्थि में चारों ओर से बिंध गया लगता है।

ग़ौर किया जाय तो इस उपन्यास के नायक की नियति है—सिर्फ़ टूटना। इस टूटने में ही उसकी ज़िन्दगी का सच दिखाई पड़ता है। टूटने की नियति में उसके व्यक्तित्व का अकेलापन सबसे ज़्यादा उत्तरदायी है। मेरा ख़याल है ऊब और अकेलेपन की नियति पर शायद इतना अच्छा उपन्यास सिर्फ़ निर्मल वर्मा ही लिख सकते हैं। *दूसरी बार* उपन्यास के नायक की ज़िन्दगी के अकेलेपन से गुज़रते हुए पाठक का सहसा ध्यान निर्मल वर्मा के *वे दिन* के नायक के अकेलेपन की तरफ़ जाता है। वहाँ भी नायक *दूसरी बार* के नायक की तरह अकेला और अवसादग्रस्त है। *वे दिन* की नायिका 'रायना' और इस उपन्यास की 'बिन्दो' में गहरी समानताएँ हैं। *वे दिन* के नायक की नियति में *दूसरी बार* के नायक की तरह सिर्फ़ टूटना बदा है।

सवाल उठता है कि क्या एक मध्यवर्गीय संवेदना के युवक की ज़िन्दगी का सच सिर्फ़ प्रेम है जहाँ उसकी नियति है—टूटना या उसकी ज़िन्दगी के कुछ गम्भीर आशय भी हैं। ज़ाहिर है इन गम्भीर आशयों की तरफ़ निर्मल वर्मा शुरू से ही चुप रहे हैं। श्रीकांत भी *दूसरी बार* में उसी तर्ज़ पर ख़ामोश हैं। *दूसरी बार* के नायक में अकेलेपन की मार इतनी सख़्त है कि वह अन्तर्मुखी तो है ही, साथ ही गहरे अर्थों में अहम्‌वादी भी है। उसका अहम् इतना भयावह है कि वह बिन्दो से प्रेम करने की बजाय उससे घृणा करता है क्योंकि वह सेक्स में उससे पहली बार पराजित हो गया था। उसे हमेशा अपने अस्तित्व की चिन्ता है। अपनी चिट्ठियों को प्राप्त करने के बहाने जब दूसरी बार बिन्दो उसके घर पहुँचती है, उस समय भी नायक उसे स्वीकार नहीं कर पाता। एक दूसरी तरह से देखा जाय तो *दूसरी बार* अपने अहम् को सुरक्षित रखने की चाह से पैदा हुआ उपन्यास है। शायद इसीलिए इस उपन्यास में सम्बन्धों का तनाव बहुत ज़्यादा है। उपन्यास के संवाद इतने सख़्त,

कँटीले और धारदार हैं कि बिन्दो आहत होने से बच नहीं पाती। शायद यही उपन्यास के नायक का अभिप्रेत भी है।

"शायद तुम कोई ख़ास बात करना चाहती हो?"

"हाँ मैं करना चाहती हूँ?" उसने इतनी दृढ़ता से कहा कि मुझे लगा मैं अपनी जगह लुढ़क गया हूँ। मैं नहीं सोचता था कि वह इस तरह पासा पलट देगी।

मैंने सँभलते हुए कहा—"कहो।"

मेरी ओर से छूट पाकर वह मुस्करायी और अपनी रंग-बिरंगी चूड़ियों से खेलने लगी। वह चूड़ियों के साथ मुझसे भी खेल रही थी। वह जानती थी कि मैं अपदस्थ हुआ हूँ उसकी मुस्कुराहट पहले से बढ़ गयी थी।

"मेरे पास तुम्हारी चिट्ठियाँ ही नहीं।" मैंने कहा, "और भी बहुत कुछ है।"

मैंने तय कर लिया था कि मैं उसे पूरी तरह गिराकर चैन लूँगा। यह साबित करके रहूँगा कि वह एक बाज़ारू औरत है।

"मुझे चिट्ठियों से मतलब है और किसी चीज़ से नहीं।"

"चिट्ठियाँ अब तुम्हारी सम्पत्ति नहीं।"

"मेरी किसी भी चीज़ पर तुम्हारा अधिकार नहीं।"

"चिट्ठियाँ मुझसे ही वापस लोगी या औरों से भी।"

"और किससे" वह तमतमायी। वार निशाने पर जा लगा था।

"मुझे बदनाम करना चाहते हो?" मैंने कमज़ोर जगह को कुरेद दिया था।

* *

"बोलते क्यों नहीं?" वह ग़ुस्से से थरथरा रही थी। पहले के दिनों में मैं उसके ग़ुस्से से सिहर उठता था—शायद उससे माफ़ी माँगने लगता। मगर ये पहले के दिन नहीं थे, बल्कि उनका बदला था। (*दूसरी बार*)

इस संवाद से ज़ाहिर होता है कि 'मैं' सेक्स सम्बन्धों में अपनी पराजयों का बदला नायिका बिन्दो से ले रहा है। इसके पीछे उसका प्रतिशोध, उसकी प्रतिहिंसा हावी है। वह ऐसे क्षणों में बिन्दो की हत्या तक करने की बात सोचता है, जिससे उसके कुचले हुए अहम् को सन्तुष्टि मिल सके। डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने उपन्यास के स्थापत्य पर प्रश्न खड़ा करते हुए कहा है कि "*दूसरी बार* का नायक दब्बू, असहाय और निस्संग है, दुखी है, फटेहाल है जबकि नायिका ख़ुशहाल युवती है। पहली बार वह सम्भोग में शीघ्र स्खलित हो जाता है और हीनताबोध उसे घेर लेता है। वह साहस बटोरता है ताकि दूसरी बार वह विजय हासिल कर सके।" मदान आगे कहते हैं—"नर और नारी के एक-दूसरे पर विजय पाने की होड़ में लारेंस की दृष्टि झलकने लगती है। इस उपन्यास में लगता है कि स्थितियाँ हर मोड़ पर कभी

बैटिंग का रूप धारण करती हैं तो कभी हाकी के मैच का जिसमें गोल के दायरे में पहुँचकर गोल नहीं हो पा रहा है।"[1]

वस्तुतः पूरे उपन्यास में तनाव की स्थिति इसी पसोपेश में जाया होती है। उपन्यास में 'मैं' के मन में हीनता बोध की भीतरी गाँठ इतनी ज़बरदस्त पड़ गयी है कि वह उसे खोल नहीं पा रहा है। वह बार-बार बिन्दो के जीवन के हर मोड़ पर आकर अपने को अपमानित और हीन समझ रहा है। उसमें आत्मीयता इतनी बुरी तरह हावी है कि उसका अपने पुरुषत्व से विश्वास उठ गया है। मदान के अनुसार इस उपन्यास का अन्त "अनुभूति की धारा का समापन नहीं करता, उसे समेटने की बजाय खुला छोड़ देता है।"[2] उपन्यासकार द्वारा इस उपन्यास को इस तरह खुला छोड़ने के पीछे अनिर्णय की स्थितियाँ ही हावी हैं, जिससे कोई नतीज़ा नहीं निकलता। सिवाय इसके कि *दूसरी बार* वह सम्पूर्ण स्खलन का सुख अर्जित करने की बजाय बिन्दो को पराजित कर देता है। यद्यपि बिन्दो से छूटकर वह शहर छोड़ने की बात सोचता है। पर सारा अन्धकार उसके मन के अँधेरे में इस तरह जमा है कि उसे कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। क्या सचमुच *दूसरी बार* के नायक के सामने रास्ता नहीं है? यह प्रश्न नायक के सामने मुँह बाये खड़ा है। "वह कहता है बिन्दों उसके जीवन का अभिशाप है, उसका मुँह देखना भी पाप है।" वह तो उससे सिर्फ़ सैक्स में अपनी पराजय का बदला लेना चाहता था।

डॉ. मदान मानते हैं कि "इस तरह दोनों में यान्त्रिक सम्बन्ध टूटने की गवाही देता है। इस अस्वीकार में आधुनिकता का बोध उजागर होता है, जो नगरबोध से जुड़ा है, जहाँ कोई पहचान नहीं सकता। कोई नाम लेकर पुकार नहीं सकता। कोई अपने प्रेम में खलल नहीं डाल सकता। क्योंकि उसका नायक अन्त में कहता है—'मैं घर पर पड़े रहना चाहता हूँ। यह मेरी जगह है। पर झूठ है, बिन्दो झूठ है जो भी जाना है, पहचाना है, झूठ है।' नायक के इस वक्तव्य से साफ़ है कि *दूसरी बार* की चिन्ता महानगरीय प्रेम-सम्बन्धों के बीच पड़ते लिजलिजे दरारों की नहीं है, अपितु प्रेम की दुनिया के बहाने एक ऐसे युग की मानसिकता का साक्षात्कार है, जहाँ प्रेम की दुनिया में सम्बन्धों की मानवीयता का कोई अर्थ नहीं। वहाँ प्रेम सिर्फ़ देह का पर्याय है। वह देह नहीं तो वह प्रेम नहीं।"[3]

क्या श्रीकांत *दूसरी बार* लिखकर यह साबित करना चाहते थे कि आज प्रेम मानवीय दुनिया से बहिष्कृत हो गया है? प्रेम का ठेका एक कसाई समाज ने ले रक्खा है, जहाँ बिन्दो एक मानवीय स्त्री का चेहरा नहीं सिर्फ़ बिस्तर बदलने वाली एक चद्दर है। कम-से-कम *दूसरी बार* के नायक का उसके साथ सलूक तो यही

1. *आधुनिकता और आधुनिक साहित्य*
2. वही
3. वही

साबित करता है। उपन्यास में अपने मित्र के बारे में कहते हुए लगता है वह अपनी ही बात दुहरा रहा है—"उसके लिए स्त्री समूचा संसार नहीं—दुनिया की विशाल पार्श्वभूमि में हज़ारों आकृतियों में से महज़ एक आकृति है। उसका ढाँचा मुझसे बिल्कुल अलग है। यह मैं जानता हूँ और इसके लिए मैं न उसे दोषी ठहरा सकता हूँ, न अपने आपको।"

इस उपन्यास की भाषा और शिल्प के बारे में सिर्फ़ इशारा करते हुए कहा जा सकता है कि श्रीकांत के पास गद्य की भाषा जादू की तरह है, जिसमें सधे हुए वाक्य, चुटीले शब्द और मोहक काव्य-बिम्बों, प्रतीकों वाली भाषा की सुगंध पूरे उपन्यास में फैली हुई है। इस उपन्यास के संवाद इतने चुस्त और कसे हुए हैं कि पाठक को लगता है किसी नाटक का सीन चल रहा है। पूरे उपन्यास में वातावरण को बार-बार चित्रित किया गया है जो 'मैं' की मनःस्थिति को सामने लाने में मदद करता है। कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं—

"दरवाज़ा खुला और फरफराती हुई साड़ियों की महक और चूड़ियों की खनक रेस्तराँ में तैर गयी।"

"चाय देने वाले लड़के ने रेडियो तेज़ कर दिया जिसमें फ़िल्मी धुनें कानों के पर्दे से टकराने लगीं। पुकार बाहर थी मगर लगता था चीख़ अन्दर है।"

"एक क्षण के सौवें भाग की तिलमिलाहट उसमें कौंधी जिसे तुरन्त ही उसने पी लिया।"

"अब भी उसकी चाल में तिलमिलाहट है या शिकस्त मगर उसमें कुछ नहीं था। केवल वापसी थी।"

देखा जाय तो उपन्यास की सबसे बड़ी उपलब्धि इसकी भाषा है जहाँ श्रीकांत ने ऐन्द्रिक भाषा का एक अद्भुत संसार रचा है। ज़ाहिर है ऐन्द्रिकता भरी भाषा की यह मांसलता पाठक को बहुत आकृष्ट करती है। सिर्फ़ एक उदाहरण पर्याप्त होगा "वस्त्र न होने के कारण बड़े-बड़े हीटरों की आँच अब सीधे बदन तक पहुँच रही थी। पलंग पर मुझसे लिपटकर बैठी हुई बिन्दो की पीठ पर बल्ब की नीली रोशनी और वजनी जंघाओं पर हीटर की आँच सुर्ख़ पताकाओं की तरह पड़ रही थी। मेरे नीचे पड़ी वह जब भी मुँह उठाकर मुझे चूमती तो मेरे दिमाग़ में हमेशा ही एक दृश्य उभरता—कुतिया अपनी कृतज्ञता और पुलक में गर्दन उठाकर कुत्ते को चाट रही है।" (*दूसरी बार*)

मेरा ख़याल है श्रीकांत की यह काव्यमय ऐन्द्रिक भाषा ही इस उपन्यास की पठनीयता और उपलब्धि का एक ख़ास पहलू है। वर्ना थीम के नाम पर *दूसरी बार* उपन्यास सेक्स में पराजित होने के बाद एक पुरुष का स्त्री से बदला लेने का सिर्फ़ एक ढंग ही तो है।

10

श्रीकांत वर्मा की *जिरह*

हालाँकि श्रीकांत वर्मा मुख्यतः और अंततः एक कवि हैं जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, "मैं एक कवि के रूप में प्रकट हुआ, एक कवि के रूप में मरूँगा।"[1] यद्यपि उन्होंने कविता के अलावा कहानियाँ उपन्यास, डायरी, आलोचना, अनुवाद, यात्रा-वृत्तांत जैसी विधाओं में कविता के समानान्तर लगातार लिखा—तीन दशक तक पत्रकारिता की। साहित्य और जीवन की खोज में तीन बार पूरी दुनिया की यात्राएँ कीं और अंत में कहा 'भारत अद्‌भुत और महान्‌ देश है।'

इस तरह देखा जाय तो इस छोटे क़द के कुतुब आदमी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह एक अद्‌भुत कवि है, इसमें संदेह नहीं; पर कवि के अलावा उसके वैचारिक गद्य में एक सक्रिय बुद्धिजीवी की छवि उभरती है। यह छवि उसके कवि रूप से कम महत्त्वपूर्ण नहीं, जैसे अज्ञेय और मुक्तिबोध बुनियादी रूप से एक कवि के रूप में जाने-माने जाते हैं। पर इनका वैचारिक गद्य क्या कम मूल्यवान है?

श्रीकांत वर्मा रचनावली के तीसरे और चौथे खण्ड से गुज़रते हुए पाठक को श्रीकांत वर्मा के बौद्धिक व्यक्तित्व की ऊँचाइयों का पता चलता है। अगर वे हमेशा एक बेचैन और उत्तप्त लेखक रहे तो उसका सीधा साक्षात्कार उनके वैचारिक और आलोचनात्मक लेखों, टिप्पणियों, बहसों से करना होगा। जिनमें गहरी विविधता और सघन वैचारिक ऊष्मा का विस्फोट निहित है। उन्होंने वैचारिक गद्य लेखन की यात्रा कवि-कर्म के साथ-साथ की। ख़ासतौर से उन्होंने नयी कविता और नयी कहानी आन्दोलन के दौर में चरम वैयक्तिकता का तीखा विरोध किया था। उनके आरम्भिक आलोचनात्मक लेखन में इन आन्दोलनों की भीतरी राजनीति और उनके निहित सरोकारों पर तीखे प्रहार हैं। तब वे साहित्य में व्यक्तिवाद, कलावाद से जूझ रहे थे।

1. *साक्षात्कार* : श्रीकांत वर्मा रचनावली—4, पृष्ठ 307

भटका मेघ (1957) की भूमिका लिखते हुए श्रीकांत ने नयी कविता के व्यक्तिवाद, क्षणवाद पर तीखी टिप्पणियाँ की थीं। स्पष्ट रूप से वे अज्ञेय की नयी कविता के शास्त्र के विरुद्ध खड़े थे। वे प्रतिवाद करते हुए कहते हैं "प्रश्न यही है कि आज की जीवंत कविता में कौन-सा व्यक्तित्व उभर रहा है? आज के जीवंत मूल्य कौन-से हैं? राहों के अन्वेषण के लिए मशाल की जरूरत होती है। अंधकार के खंडहरों में भटकर चिमगादड़ के पंखों की फटफटाहट को ही जीवन का एकमात्र चिह्न मान लेना एक और बात है, पथ की खोज करना एक और बात है।[1]

यह वक्तव्य छत्तीसगढ़ के उस आरम्भिक श्रीकांत का है जो अपनी कविता के ज़रिये जीवन-मूल्यों और आस्था की खोज करने निकला है। तब उसके व्यक्तित्व पर मुक्तिबोध की गहरी छाप मौजूद थी। मुक्तिबोध के व्यक्तित्व की काली धधकती आँच और उनकी कविता के भयानक संसार ने उसे वह विद्युत् स्पर्श दिया था, जिसके चलते वह नयी कविता आन्दोलन में मुक्तिबोध और उनकी कविता की परम्परा के साथ विकसित हो रहा था। तब उसने नयी कविता में, मुक्तिबोध के साथ 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि' को तोड़ने के लिए सप्तक परम्परा से बाहर आकर अज्ञेय के व्यक्तिवाद के क़िले को तोड़ने की पुरज़ोर कोशिश की थी।

वे अज्ञेय को आधुनिक काव्य का एक ग़लत प्रणेता मानते थे। उनका स्पष्ट मत था कि "मैं इस नतीजे पर पहुँचने लगा हूँ कि हिन्दी को उसकी जड़ से सबसे अधिक अज्ञेय ने उखाड़ा है। उन्होंने उस पर बाहरी माँग, झूठी मान्यताएँ और नक़ली चिन्ताएँ आरोपित कीं, इससे हिन्दी साहित्य और इससे भी अधिक हिन्दी लेखकों का व्यक्तित्व बेडौल हो गया, जो एक व्यक्तित्व का अहं था वह दूसरों का बोझ बन गया।

अज्ञेय के साथ हिन्दी लेखन एक ग़लत दिशा में मुड़ गया। हमें नियति का चमत्कार ही कहना चाहिए कि हिन्दी लेखन ने 1940 के आस-पास अपने लिए वह भूमिका ओढ़ ली, जो उसके लिए नहीं थी।

तीस वर्षों में कहीं भी इतना छद्म लेखन नहीं हुआ जितना कि 1940 से 1970 के बीच हिन्दी में हुआ। अज्ञेय की कविताएँ और गद्य हिन्दी छद्म लेखन की शुरुआत हैं। 1965 से 1970 के बीच अकविता इस लेखन की चरम परिणति है।"[2]

इस वक्तव्य के परिप्रेक्ष्य में देखें तो श्रीकांत ने अपने कवि-कर्म की शुरुआत नयी कविता के व्यक्तिवाद के विरुद्ध जाकर की। वे अज्ञेय की धारा के विरुद्ध बह रहे थे। वह धारा मुक्तिबोध के समीप थी। पर वह निश्चित रूप से *परिमल*

---

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली, पृष्ठ 458
2. *श्रीकांत वर्मा की डायरी*, 6 फ़रवरी 1972, रचनावली–2 पृष्ठ 355

की नयी कविता और अज्ञेय की कविता के विरोध में बह रही थी। उन्होंने *मायादर्पण* संग्रह में 'नक़ली कवियों की *वसुन्धरा*' शीर्षक से लिखी अपनी बहुचर्चित कविता में जैसे नयी कविता के दौर के उन नक़ली कवियों का विरोध किया था और लगभग गाली की भाषा में चेतावनी दी थी—'बरस रहा है अंधकार, मगर उल्लू के पट्ठे स्त्रियाँ रिझाऊ कविताएँ लिख रहे हैं', ऐसा कहकर उन्होंने नयी कविता की व्यक्तिवादी रोमाण्टिकता का खुला विरोध किया था और नयी कविता की जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि' को मुक्तिबोध की तरह एक कठिन चुनौती के रूप में पेश किया। *मायादर्पण* में कवि की सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ अन्वेषी दृष्टि उनके सजग काव्य विवेक का प्रमाण है। इसे कवि के व्यक्तिगत सिनिसिज़्म में रिड्यूस करना उसके सामाजिक सरोकारों को अनदेखा करना होगा।

श्रीकांत व्यक्तिवाद के समानान्तर उन नक़ली प्रगतिवादियों से भी संघर्ष करते दीखते हैं जो कविता को महज़ नारा और गाली बना रहे थे। वे मुक्तिबोध के नाम लिखे (13-12-63) अपने पत्र में युवा कविता का विरोध कर रहे पुराने प्रगतिवादी आलोचकों का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं— "नयी पीढ़ी को कोसकर फिर से जीवित हुए पुराने प्रगतिवादी आलोचक ग़लती कर रहे हैं। यह सही है कि बहुत-सा फ़ैशनेबल साहित्य भी रद्दी, भद्दी पत्रिकाओं में छप रहा है, मगर आज के साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंश पहले से अधिक मानवीय है... मैं अब भी एक वामपक्षी समाजवादी समाज में विश्वास करता हूँ और करूँगा क्योंकि मनुष्यता के लिए एक मात्र रास्ता यही है। मगर जिस तरह का अवसरवाद हमारे सामाजिक जीवन के भीतर-ही-भीतर पनप रहा है उससे वामपक्ष भी बरी नहीं है। बल्कि अगर विचारधारा को छोड़ दिया जाये तो व्यवहार और कर्म में वाम और दक्षिण में कोई अन्तर नहीं रह गया है।" (*श्रीकांत वर्मा रचनावली-4*, पृष्ठ 435)

ग़ौर किया जाये तो श्रीकांत के वैचारिक आरम्भ में एक ओर मुक्तिबोध उन्हें काव्य और साहित्य के स्तर पर प्रभावित कर रहे थे तो दूसरी तरफ़ राजनीतिक विचारधारा के स्तर पर वे डॉ. लोहिया के विचार और कर्म से गहरे स्तर पर आकृष्ट हुए। डॉ. लोहिया के प्रति श्रीकांत का यह आकर्षण केवल आकर्षण भर नहीं था बल्कि वे देश की राजनीति में नेहरू के विकल्प के रूप में डॉ. लोहिया को देख रहे थे। अन्य समाजवादी लेखकों और बुद्धिजीवियों की तरह श्रीकांत डॉ. लोहिया के ग़ैर कांग्रेसवाद और उनकी सप्तक्रांतियों में गहरी आस्था रखते थे।

श्रीकांत लोहिया के व्यक्तित्व की आँच से किस हद तक प्रभावित थे। इसके लिए उनका लोहिया के बारे में यह वक्तव्य काफ़ी है—"ग़लत दुनिया में पैदा होने का अहसास क्रांतिकारी की पहली शर्त है। राममनोहर लोहिया के पहले औरों को भी यह अनुभव हुआ होगा कि वे ग़लत हिन्दुस्तान में पैदा हुए हैं...और आक्रांता इतिहास से जूझते हुए राममनोहर लोहिया ऐसे समय में मरे जबकि युवक यह समझने

लगे थे कि कुछ थोड़ा-मोड़ा नहीं सब कुछ ग़लत है...लोहिया इस ख़तरे को जानते थे। इसलिए उन्होंने अस्वीकार के दर्शन को जिसे उन्होंने स्वयं ही रचा, कर्म का दर्शन बनाया।"[1]

श्रीकांत मानते हैं कि डॉ. लोहिया का समूचा चिन्तन एक ऐसी तर्क प्रणाली है जिसकी चपेट में आकर कोई भी रूढ़ि बच नहीं सकती। वे मानते हैं कि डॉ. लोहिया के पूर्व भारतीय राजनीति में गाँधी ही एक ऐसे जननायक थे जिन्होंने हर प्रश्न को विशाल सन्दर्भ में देखा था। इसीलिए डॉ. लोहिया के प्रश्नों का अन्त नहीं है वे मानते हैं "डॉ. लोहिया के पास किसी भी प्रश्न का हल नहीं है। जो लोग हल की तलाश में उनके नज़दीक पहुँचेंगे, उन्हें सबसे अधिक निराशा होगी। बल्कि झुँझलाहट भी होगी क्योंकि उन्होंने हल ढूँढ़ने की बजाय केवल प्रश्न पेश करना अपना कर्त्तव्य समझा। उनका मन लाखों शंकाओं से भरा हुआ है। जैसे फ्रांस के अस्तित्ववादियों ने स्वयं जीवन के प्रति शंकाएँ उठायी थीं, वैसे ही डॉ. लोहिया ने इतिहास के प्रति शंकाएँ उठायी हैं। यह भी एक कारण है कि शासक राजनेताओं को डॉ. लोहिया का व्यक्तित्व समझ में नहीं आता। उनकी निगाह में लोहिया एक हताश राजनीतिज्ञ हैं, जो जीवन भर दूसरों को चुनौती देते रहे। लेकिन वास्तविकता यह है कि श्री लोहिया ने दूसरों को चुनौतियाँ दी नहीं है बल्कि अपनी वे शिकायतें और सवाल उठाये हैं, जिनसे जूझते हुए स्वयं उनका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो गया है।"[2]

श्रीकांत ने भारतीय राजनीति और समाज में डॉ. लोहिया की स्थिति को 'आत्म निर्वासन' कहा है। वे कहते हैं इस तरह का निर्वासन आज के हर विद्रोही की नियति है। ज़ाहिर है लोहिया का यह आत्म-निर्वासन श्रीकांत की युवाकाल वाणी का जैसे पाथेय बन गया। सन् 60 के बाद श्रीकांत के कवि कर्म में जो दूसरा निर्णायक मोड़ आया, उसके पीछे भारतीय राजनीति के इसी आत्मनिर्वासित जननायक की भूमिका है, जिसने श्रीकांत की कविता और विचार को दो टूक, निर्मम और नाराज़ बनाया। जिस तरह डॉ. लोहिया समाज और राजनीति में आत्मनिर्वासित नायक रहे, उसी तरह श्रीकांत की कविता का नायक आत्मनिर्वासित नायक है। जो लोहिया की तरह कविताओं में प्रश्न पूछता है, ज़िरह करता है।

श्रीकांत के वैचारिक गद्य में जो अंतहीन बहस, जिरह और प्रश्न खड़ा करने की आदत है, यह उन्हें विरासत में डॉ. लोहिया से मिली। जिससे श्रीकांत अपने विचारों के सबसे बड़े वकील बने। दरअसल लोहिया की वाणी और विचार का असर सिर्फ़ श्रीकांत पर ही नहीं है बल्कि उनके समकालीनों, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल

---

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृष्ठ 70
2. श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृष्ठ 67

सक्सेना और विजयदेव नारायण साही सरीखे कवियों पर भी पड़ा है। श्रीकांत में लोहिया की वाणी की आक्रामकता और दोटूकपन सबसे ज़्यादा है। शायद इसीलिए श्रीकांत के गद्य और कविता की भाषा का तापमान हमेशा चढ़ा रहा। इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि लोहिया के बिना श्रीकांत की वैचारिक ऊष्मा की पड़ताल अधूरी है।

श्रीकांत की पहली भेंट डॉ. लोहिया से 1963 में हुई थी। श्रीकांत कहते हैं, 'मैं उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ था और उनका भी मेरे प्रति अनुराग था।' डॉ. लोहिया की असामाजिक मौत से श्रीकांत कितने गहरे सदमे में हैं, इसका अन्दाजा उनकी इस टिप्पणी से लगाया जा सकता है: "ग़रीब बाप के बेटे राममनोहर लोहिया ने चालीस साल तक इस देश की ग़रीबी, अशिक्षा और भुखमरी के विरुद्ध अकेले संघर्ष किया है, पिछले दस दिनों से वह तमाम डॉक्टरों के बावजूद मृत्यु से अकेले संघर्ष कर रहे हैं...हाल के इतिहास में किसी एक आदमी के लिए इतनी प्रार्थनाएँ नहीं की गयीं जितनी कि पिछले दस दिनों से डॉ. लोहिया के लिए की जा रही हैं। नयी दिल्ली का विलिंग्डन अस्पताल देश की चिन्ता और बेचैनी का केन्द्र बना हुआ है।" डॉ. लोहिया की मृत्यु पर वे लिखते हैं—"और लोग मरने के बाद सम्पत्ति छोड़ जाते हैं, सम्पत्ति के सबसे बड़े विरोधी डॉ. राममनोहर लोहिया कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ गये, यहाँ तक कि अपनी भस्मी भी नहीं, उनकी जो थोड़ी-सी भस्मी मिली, वह संगम पर प्रवाहित नहीं की जायेगी। डॉ. लोहिया को समुद्र से प्रेम था। इस प्रेम को दृष्टि में रखते हुए उनके कुछ मित्रों ने यह निश्चय किया है कि थोड़ी-सी राख कन्याकुमारी अन्तरद्वीप पर प्रवाहित कर दी जाये...डॉ. लोहिया बेघर थे। मृत्यु के बाद अब उनके लिए घर की व्यवस्था की जा रही है।"[1]

डॉ. लोहिया के अवसान के बाद समाजवादी आन्दोलन बिखरने लगा। डॉ. लोहिया ने गाँधी की राजनीतिक विरासत के स्वप्न को ग़ैर कांग्रेसवाद में देखा था। श्रीकांत डॉ. लोहिया के जीवनकाल में इस ग़ैर कांग्रेसवाद के समर्थक थे। पर उनके न रहने पर ग़ैर कांग्रेसवाद की सरकारों में एक गहरा अवसरवाद पैदा हुआ। इससे लोहियावादी बुद्धिजीवियों को एक बड़ा झटका लगा। श्रीकांत लिखते हैं "समाजवादी आन्दोलन बिखरने लगा और अन्य बुद्धिजीवियों की तरह मैं भी समाजवादियों से दूर जा पड़ा। 1969 में श्रीमती गाँधी ने ऐसे कई क़दम उठाये, जिन्हें मैं अब भी जनवादी मानता हूँ। मैं आकर्षित होकर श्रीमती गाँधी के निकट आया।"[2] हालाँकि श्रीमती गाँधी कितनी जनवादी थीं। यह बहस का एक अलग मुद्दा है। पर इतना तय है कि राजनीतिक विचारधारा के स्तर पर श्रीकांत का समाजवादियों से मोहभंग

---

1. *दिनमान*, 22 अक्तूबर 1967
2. वही, परिशिष्ट-ग पत्र

और श्रीमती गाँधी के आकर्षण में खिंचकर कांग्रेस में जाना उनके वैचारिक परावर्तन का एक गंभीर मोड़ है। श्रीकांत तर्क देते हैं कि "डॉ. लोहिया यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि जब तक कांग्रेस नहीं टूटती है तब तक वह सत्ता भी नहीं टूटेगी जिसे वह सर्वग्रासी कहते थे। यह अजीब बात लग सकती है लेकिन सच यह है कि कांग्रेस को तोड़ने की प्रक्रिया दो स्तरों पर चली—एक डॉ. राममनोहर लोहिया के स्तर पर, दूसरी श्रीमती गाँधी के स्तर पर। लोहिया जी कुछ भिन्न कारणों से कांग्रेस को तोड़ना चाहते थे जबकि श्रीमती गाँधी अन्य कारणों से। लेकिन दोनों के उद्देश्यों में बहुत विरोध नहीं था।"[1] श्रीकांत फिर प्रश्न करते हैं "क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि यदि लोहिया जीवित रहते तो 1969 में वही करते जो उनके अनुयायियों ने किया। वह सत्ता पर हावी होने की कोशिश करते, क्योंकि उनका विश्वास था कि सत्ता सामाजिक क्रांति और परिवर्तन का अस्त्र है, उसे प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। शायद वे अल्पमत में जा रही कांग्रेस से सौदे करते, शर्तें रखते, सत्ता में हिस्सेदारी करते ताकि सामाजिक परिवर्तन का पक्ष प्रशस्त हो सके।"[2] श्रीकांत के इस निष्कर्ष से हालाँकि सहमत होना कठिन है कि डॉ. लोहिया और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के उद्देश्यों में बहुत विरोध नहीं था। लेकिन वे श्रीमती गाँधी से उसी तरह प्रभावित हुए जैसे कभी डॉ. लोहिया से। इसीलिए वे कांग्रेस में गये। क्योंकि कांग्रेस विभाजन के बाद इंडीकेट कांग्रेस की श्रीमती गाँधी पर्याय थीं जो आजीवन बनी रहीं। पर श्रीकांत वैचारिक स्तर पर कभी कांग्रेस से जुड़े नहीं रहे। बल्कि कांग्रेस से जुड़े रहने का एकमात्र रहस्य ही उनके लिए श्रीमती गाँधी थीं; क्यों श्रीमती गाँधी के बाद श्रीकांत का मोहभंग कांग्रेस से उसी तरह होता है जैसे डॉ. लोहिया के न रहने पर समाजवादियों से। श्रीकांत के राजनीतिक रुझानों को समझने में इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जाना चाहिए। उनकी कांग्रेस से मोहभंग की कहानी जानने के लिए आज उनकी डायरियों के वे पन्ने विशेष महत्त्व रखते हैं जिन्हें उन्होंने अपनी मृत्यु के कुछ माह पहले लिखा था।

यहाँ राजेन्द्र माथुर का श्रीकांत की राजनीति के सिलसिले में यह विश्लेषण सटीक लगता है "लोहिया से वे प्रभावित हुए अवश्य लेकिन *दिनमान* में की गयी पत्रकारिता उन्हें लगातार सक्रिय राजनीति की ओर ले आयी और जब 1968-69 में इन्दिरा गाँधी और तथाकथित सिंडिकेट के बीच मुक़ाबला चला तो वे इन्दिरा गाँधी के पक्षधर हो गये। पर श्रीकांत कांग्रेसी होते हुए भी कांग्रेसी संस्कृति के अंग नहीं बन सके। वे इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व और उनकी कार्य-प्रणाली के कायल थे। और यही उनकी राजनीति थी। वे हमेशा उनके प्रति ईमानदार बने रहे। और हालाँकि

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृष्ठ 329
2. वही, पृष्ठ 339

आपात्काल के दौरान वे संजय गाँधी के कारनामों से सहमत नहीं थे लेकिन इन्दिरा गाँधी का साथ उन्होंने नहीं छोड़ा।"[1]

देखा जाय तो राजनीतिक स्तर पर श्रीकांत शुरू से ही समाजवादी विचारधारा के समर्थक रहे। जब वे श्रीमती गाँधी के सम्पर्क में आये तब भी उनका समाजवादी तेवर बुझा नहीं। वे सच्चे लोकतंत्र के हिमायती थे। वे चाहते थे कि समता के आधार पर समाज में सम्पन्नता आये। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को वे लोकतंत्र में सबसे बड़ा मूल्य मानते थे। शायद इसीलिए उन्होंने जीवन भर किसी भी तरह की तानाशाही ताक़तों का विरोध किया। उनके कुछ आलोचकों का यह आरोप सही नहीं है कि वे इमरजेंसी के समर्थक थे। बल्कि इसके विरोध में उन्होंने लेखकों के एक प्रतिनिधि मण्डल के साथ श्रीमती गाँधी से शिकायत की थी कि लेखकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हमला किया जा रहा है। इसलिए इमरजेंसी के दौर में कांग्रेस में बने रहने की उनकी नियति को इमरजेंसी का समर्थक नहीं घोषित किया जा सकता। इन्दिरा गाँधी के साथ तो वे तब भी बने रहे जब सन् 77 के आम चुनावों में कांग्रेस का सफ़ाया हो गया था। वे अगर अवसरवाद की राजनीति में विश्वास करते तो अन्य कांग्रेसियों की तरह जनता पार्टी में शामिल हो सकते थे। क्योंकि उस दौरान उन्हें पुराना समाजवादी मानकर जनता पार्टी के लोगों ने प्रलोभन दिये थे कि 'वापस आ जाओ' पर श्रीकांत पीछे नहीं लौटना चाहते थे। क्योंकि तब वे ग़ैर कांग्रेसवाद के औचित्य को नाकाफ़ी मान चुके थे।

चूँकि श्रीकांत एक लेखक होने के साथ ही देश की सक्रिय राजनीति में भी सक्रिय रहे हैं इसलिए उनके साहित्यिक-वैचारिक सरोकारों के साथ उनके राजनीतिक सरोकारों को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है। हालाँकि श्रीकांत साफ़-साफ़ कहते हैं कि 'मेरे साहित्य और मेरी राजनीति की दुनिया अलग-अलग हैं। दोनों को एक में मिलाना मेरे साथ ज़्यादती है।' पर क्या एक लेखक का साहित्य उसकी राजनीति से बिल्कुल अलग है? श्रीकांत के साहित्य और राजनीति के सिलसिले में यह बहस का एक दिलचस्प मुद्दा है। जो हमेशा विचारणीय रहेगा।

जैसा कि पहले कहा गया अपने साहित्यिक जीवन में श्रीकांत मुक्तिबोध से गहरे स्तर पर प्रभावित रहे। उनकी कविताओं को लेकर हमेशा उनमें तीव्र आकर्षण रहा। मुक्तिबोध की कविता में जो भयानक तनाव और अन्तर्द्वन्द्व है उसे श्रीकांत ने अपने कवि-कर्म में आज़माया। पर वैचारिक स्तर पर उन्होंने डॉ. लोहिया की समाजवादी अवधारणाओं पर विश्वास रखने के चलते मुक्तिबोध की विचारधारा से अपनी असहमति व्यक्त की थी। इसीलिए वे मार्क्सवाद और मार्क्सवादियों से जीवन भर असहमत रहे। क्योंकि वे इस दर्शन को मनुष्य की मुक्ति का अंतिम दर्शन नहीं

---

1. श्रीकांत वर्मा के निधन पर लिखा सम्पादकीय : *नवभारत टाइम्स*, 27 मई 1986

मानते थे। इसीलिए वे शुरू से लेकर आख़िर तक अपनी ज़िरह में मार्क्सवाद से प्रश्न पूछते हैं, असहमत होते हैं और लगातार झगड़ते हैं। पर इस झगड़ने में उनकी मुद्रा मार्क्सवाद को रद्द करने की नहीं है। जैसा कि कुछ मार्क्सवादी लेखकों ने श्रीकांत को मार्क्सवाद का कट्टर विरोधी मान लिया। जैसे कट्टर विरोधी अज्ञेय, नरेश मेहता और निर्मल वर्मा सरीखे घोर कलावादी और व्यक्तिवादी लेखक हैं।

अगर ऐसा होता तो श्रीकांत मुक्तिबोध और परसाई सरीखे कट्टर मार्क्सवादी लेखकों को अपना आदर्श नहीं बनाते। वे मुक्तिबोध की कविता को हिन्दी कविता का एक महान् युग मानते हैं। मुक्तिबोध के जीवन और कविता पर उनकी यह टिप्पणी कितनी अर्थवान है, यह देखने की चीज़ है—"तालाब के किनारे बैठ कर रोमैण्टिक हो जाना स्वाभाविक है। मुक्तिबोध दूसरी तरह के रोमैण्टिक थे। उनके पास न प्रेम-कथाएँ थीं न सस्ती भावुकता थी। उनके पास मालवे की यादें थीं। प्रकृति की स्मृतियाँ थीं। और उनकी प्रकृति भी जैसाकि उनकी कविता से स्पष्ट है और कवियों की प्रकृति से अलग है, अज़ीबोगरीब है। पेड़ों में बरगद उनका मन पसंद पेड़ था और पक्षियों में घुग्घू, देवताओं में देव-प्रतिमाओं में अगर उन्हें कोई प्रिय था तो भैरों। यह विशालता, विश्वबोध जो अक्सर कालातीत हो जाता है। मुक्तिबोध के काव्य और व्यक्तित्व की विशेषता थी। वह कहीं भी हों, लगता था किसी बड़े सन्दर्भ से जुड़े हुए हैं। उनका हर अनुभव किसी महानुभव से जाकर जुड़ जाता था। चाहे वह जुम्मा टैंक हो या टेकड़ी—मुक्तिबोध के लिए वे केवल प्रसंग थे। सन्दर्भ था—वह महाजीवन जिससे मुक्तिबोध एक इतिहासज्ञ, एक पुरातत्ववेत्ता और एक वैज्ञानिक की तरह जूझ रहे थे।"[1]

इस तरह श्रीकांत मुक्तिबोध के जितने कट्टर समर्थक हैं, शिवदान सिंह चौहान जैसे जड़ मार्क्सवादियों के उतने ही विरोधी। वे शिवदान सिंह के वर्ग संघर्ष के एलान को एक राजनीतिक कार्यकर्ता का एलान मानते हैं। वे साहित्य में प्रतिबद्धता की बहस को फ़िजूल मानते हैं—"भेद न करना दृष्टिहीनता की ही दृष्टि की व्यापकता का परिचायक है। साहित्य-दवा की बोतल नहीं है जिसमें भेद किया जा सके। साहित्य में कोई पक्ष-विपक्ष नहीं होता। पक्षधरता राजनीति का स्वभाव है। जो साहित्य को भी पक्ष-विपक्ष में विभक्त कर देखता ही नहीं मूल्यांकन करता है, वह वास्तव में एक राजनीतिक कार्यकर्ता है साहित्यकार नहीं।"[2]

साहित्य में प्रतिबद्धता के सवाल को रद्द करने के बावजूद श्रीकांत जार्ज लुकाच जैसे मार्क्सवादी आलोचक को अस्वीकार नहीं कर पाते हैं, जो साहित्य में पक्षधरता और प्रतिबद्धता के प्रश्न को सबसे बड़ा मूल्य मानता है। श्रीकांत जार्ज

---

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृष्ठ 65
2. श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृष्ठ 44

लुकाच के अवदान को रेखांकित करते हुए कहते हैं, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ तक उन्नीसवीं सदी और उसके साहित्य का प्रश्न है जार्ज लुकाच की व्याख्याएँ प्रामाणिक हैं...जहाँ तक मार्क्सवादी साहित्य का प्रश्न है जार्ज लुकाच उसके विधाता हैं। यदि मार्क्सवादी साहित्य ने कुछ भी पैदा न किया होता केवल लुकाच पैदा किया होता तो भी वह हमेशा बुद्धिजीवियों और रचनाकारों के अध्ययन का विषय होता।"[1]

ग़ौर करने की बात है कि श्रीकांत वर्मा मार्क्सवाद से असहमत क्यों हैं? यद्यपि वे अपने साहित्य में समाज और साहित्य के रिश्ते को अनेक बार, अनेक तरह से व्याख्यायित करते हैं और मनुष्य की नैतिक आवाज़ को ही साहित्य का मुख्य स्वर मानते हैं। शायद इसकी एक बड़ी वजह यह है कि वे अपने जीवन और लेखन में आधुनिकता का विकल्प नहीं ढूँढ़ पाये। कहना न होगा कि वे नयी कविता के दौर में आधुनिकता और आधुनिक साहित्य के सबसे बड़े पैरोकार थे। उनकी यह पैरोकारी शुरू से आख़िर तक झलकती है। पर वे पश्चिमी आधुनिकता के हिमायती नहीं हैं। बल्कि उसके विरोधी हैं। वे कहते हैं "पश्चिम की यह आधुनिकता जो हमारे साहित्य और जीवन में आयी, वह नक़ली है।" इसके बरक्स वे मानते हैं कि "आधुनिक जीवन में भारत में एक देसी आधुनिकता भी विकसित हुई है, यही आधुनिकता हमारे साहित्य और समाज के लिए यथेष्ट है।"

बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में जिरह करते हुए श्रीकांत मानते हैं कि बीसवीं शताब्दी की कल्पना बिना आधुनिकता के असंभव है। वे कहते हैं आधुनिकता का जब इतना विरोध है तो यह बताना ज़रूरी होगा कि आख़िर आधुनिकता का विकल्प क्या है? पर श्रीकांत आधुनिकता के पक्ष में ज़िरह करते हुए आँख नहीं मूँद लेते हैं बल्कि वे आधुनिकता से भी ज़िरह करते हैं। वे आधुनिकता के उन मानवविरोधी मूल्यों से तीव्र असहमति प्रकट करते हैं जो डिमाक्लीज की तरह मनुष्यता की गर्दन पर आज झूल रहा है। वे मानते हैं "इस समय कलाओं पर दोहरा दबाव है। एक ओर उन्हें मनुष्यता के संकट को व्यक्त करना है और दूसरी ओर स्वयं उनका अस्तित्व संकट में हैं। टेक्नोलॉजी ने और टेक्नोलॉजी से उत्पन्न खिलवाड़ ने कलाओं को बहुत हद तक असंगत कर दिया है... विशिष्टता और व्यक्तित्व का सबसे अधिक ह्रास इस शताब्दी में हुआ है।"[2] उनके अनुसार, बीसवीं शताब्दी में "मूल्यहीनता से टकराते और भटकते हुए मनुष्य के सवालों को सबसे अधिक संवेदना के साथ साहित्यकारों ने उजागर किया है। यह साहित्य के प्रति मेरी पक्षधरता नहीं है, यह सच्चाई है और इससे वे परिचित हैं जो तमाम देशों में रचे जा रहे साहित्य के कुछ सम्पर्क में हैं।"[3]

1. वही, रचनावली, पृष्ठ 221
2. *बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में* की भूमिका : रचनावली-1, पृष्ठ 474
3. वही, पृष्ठ 474

श्रीकांत वर्मा की दृष्टि में आज बीसवीं शती के साहित्य के सामने मुख्य प्रश्न मनुष्य के अस्तित्व और उसके भविष्य का है। उनका कहना है कि बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्य के सामने भी प्रश्न यही है। वे मानते हैं कि "दरअसल अस्मिता का प्रश्न अतीत के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। कोई भी रचनाकार अपनी अस्मिता की तलाश अपनी परम्परा के बाहर जाकर नहीं कर सकता।" ज़ाहिर है वे आधुनिकता के बरक्स परम्परा की खोज भी ज़रूरी मानते हैं। बिना अपनी परम्परा से गुज़रे, उसका मूल्यांकन किये हम अपनी आधुनिकता और बीसवीं शताब्दी के प्रश्नों से जूझ नहीं सकते। यह आकस्मिक नहीं है कि इधर बीसवीं शताब्दी के अवसान के समीप भारतीय साहित्य अपनी स्मृतियों की ओर सभी भाषाओं में लौटा है। श्रीकांत ने इस तथ्य की ओर इशारा आज से पच्चीस साल पहले किया था, जो उनके अचूक भारतीय आधुनिक होने का सबूत है।

वे आधुनिक भारतीय साहित्य के वर्तमान चेहरे को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं—"भारत में भी कुछ वर्षों में एक नयी छटपटाहट आरम्भ हुई है। अतीत और वर्तमान पर पुनर्विचार हुआ है। और इस पुनर्विचार के साथ ही लेखक की अपनी स्थिति पर पुनर्विचार भी शुरू हुआ है। फिर भी एक भारतीय लेखक को यह नहीं भूलना चाहिए कि कुछ प्रश्न सार्वभौमिक होते हैं, कुछ निजी और कुछ राष्ट्रीय। वह किसी भी प्रश्न से कतरा नहीं सकता। जब तक प्रश्न है तभी तक साहित्य है।"[1]

श्रीकांत की इस जिरह में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वे मानते हैं कि एक लेखक के जीवन में बसंत कभी नहीं आता। वे कहते हैं—"मैं बसंत की तलाश में हूँ। मेरी रचनाओं में बसंत कभी नहीं आया...अगर मैं चाहूँ भी तो यह कह सकता हूँ, यही इस युग का सत्य है। लेकिन मैंने युग सत्य की तलाश का दावा कभी नहीं किया। इसलिए सिर्फ़ इतना ही कहूँगा कि मैंने जो और जैसा जीवन जिया—उसका यही सत्य था।"[2]

श्रीकांत की जिरह में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वे सिर्फ़ साहित्य के प्रश्नों से ही नहीं जूझते बल्कि विचारधाराओं की तानाशाही के विरुद्ध मानवीय स्वतंत्रता, जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सबसे बड़ा मूल्य है, जैसे प्रश्नों के साथ कला, समाज, राजनीति के विश्वव्यापी संकटों से जूझते हैं और मनुष्य के सम्मुख संकटों को बहुत सुलझी हुई विचार दृष्टि के साथ उद्घाटित करते हैं। जिनसे आप टकरा सकते हैं, कतरा नहीं सकते।

चूँकि वे अपने विचारों के सबसे बड़े वकील थे। इसलिए उनके वैचारिक गद्य में एक अंतहीन बहस के साथ-साथ लम्बी जिरह भी मौजूद है जिससे गुज़रना उस

---

1. वही, पृष्ठ 480
2. *प्रसंग* की भूमिका : श्रीकांत वर्मा रचनावली-1, पृष्ठ 466

अंतहीन बहस में शामिल होना है, जहाँ श्रीकांत के शब्द बीसवीं शताब्दी के अवसान के समीप पूरी आवाज़ के साथ बज रहे हैं। जीवन के आख़िरी वर्षों में उनकी यह आवाज़ अपनी प्रखर बौद्धिकता के साथ भारतीय और विश्व आधुनिकता से गुज़रती हुई भारतीयता के उस जीवन-मूल्य की खोज पर टिकी, जहाँ वे ईमानदार और खरे क्षोभ से अंततः गहरे उदास विवेक तक पहुँचे थे। यह गहरा उदास विवेक ही उन्हें सच्चा भारतीय लेखक बनाता है। उनकी यह वैचारिक यात्रा दरअसल बीसवीं शताब्दी के एक सच्चे आधुनिक भारतीय मनुष्य की अंतहीन जिरह है।

श्रीकांत वर्मा : एक दृश्यालेख

जन्म : 18 सितंबर 1931

जन्मस्थान : बिलासपुर, छत्तीसगढ़ अंचल (म.प्र.)

एक सम्पन्न ज़मींदार कायस्थ परिवार। पिता श्री राजकिशोर वर्मा। प्रसिद्ध स्वाधीनता संग्राम सेनानी और पेशे से वकील रहे। स्वाधीनता आन्दोलन में गाँधी जी के आह्वान पर जेल गये। माँ सुमित्रा। पर माँ की बजाय बचपन में दादी से ज़्यादा प्यार। स्वयं श्रीकांत जी के शब्दों में, "माँ का प्यार न पाना एक ट्रेजेडी थी।" चौदह साल की उम्र में दादी का अवसान।

ताऊ बिलासपुर की मशहूर ज़मींदारी केन्दा के दीवान थे। श्रीकांत वर्मा पाँच भाइयों में सबसे बड़े। दो बहनें। श्रीकांत वर्मा का बचपन केन्दा, बिलासपुर में ताऊ के साथ बीता, जो बिलासपुर से थोड़ी दूर चारों तरफ़ से घने जंगलों से घिरा एक छोटा-सा गाँव है। ताऊ ने उन्हें प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा के संस्कार दिये। शायद इसीलिए पहाड़, जंगल, तालाब, वनमुर्ग़ी, नदी बचपन से लेकर आजीवन उनकी स्मृतियों में रहे। बचपन में ताऊ और दादी से काफ़ी लाड़-प्यार मिला। फलतः बचपन से ही श्रीकांत वर्मा काफ़ी तुनुकमिज़ाज, संवेदनशील और बात-बात में रूठनेवाले बच्चे की तरह शोख़। बचपन का नाम बच्चू। बचपन से ही दूसरों से अलग और असाधारण बनने की इच्छा। 1950 के बाद ज़मींदारी ख़त्म होने के साथ पारिवारिक हैसियत डावाँडोल। परिवार में गहरी विपन्नता। भाइयों में बड़े होने के कारण किशोरावस्था से ही पूरे पारिवारिक दायित्व का निर्वहन। कठिन जीवन-संघर्ष का सिलसिला, जो किशोरावस्था से लेकर भरी जवानी तक मौजूद रहा। दादी के धार्मिक स्वभाव का गहरा प्रभाव। घर के परिवेश में उर्दू ज़बान संस्कार में मिली। 10-11 वर्ष की उम्र में एक घरेलू पुस्तकालय की स्थापना, जिसमें शरतचन्द, प्रेमचन्द, देवकीनंदन खत्री जैसे लेखक तथा *चाँद, हंस* और *सुधा* जैसी पत्रिकाएँ शामिल थीं।

1948-52 : स्कूली शिक्षा के प्रति शुरू से ही दिलचस्पी का अभाव। प्रारम्भिक शिक्षा के लिए बिलासपुर के अंग्रेज़ी स्कूल में दाख़िला। लेकिन वहाँ से निकलकर नगरपालिका स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा। बिलासपुर के म्युनिसिपल स्कूल

में दाख़िला। वहाँ से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण। 1948 में शिक्षा के लिए इलाहाबाद आगमन। इलाहाबाद के क्रिश्चियन कॉलेज में दाख़िला। लेकिन अपने घर से दूर टिक नहीं पाये। बाद में 1952 में बिलासपुर के एम.वी.आर. आर्ट्स कॉलेज से बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण। शिक्षा अधूरी छोड़कर रोज़ी-रोटी की तलाश में बम्बई। फ़िल्मों में अपने को आज़माने की कोशिश। मगर असफल। 1948 से ही कविताएँ लिखना आरम्भ। मध्यप्रदेश की तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं—*तूफ़ान, सारथी, नया ख़ून, नागपुर टाइम्स* आदि में प्रकाशित होना आरम्भ। श्रीकांत के शब्दों में, "1948 से 1952 तक का लेखन मुझे अब बचकाना और नौसिखिया लगता है।"

1952-53 : बेकारी का आलम और कविता-लेखन। इस दौरान बिलासपुर से प्रकाशित साप्ताहिक *तूफ़ान* के लिए पत्रकारिता। बिलासपुर के म्युनिसिपल कॉलेज में अध्यापन कार्य। अध्यापकी करते हुए 1956 में एक प्राइवेट छात्र के रूप में नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए.।

1954 : कवि मुक्तिबोध से नागपुर में परिचय; जिन्हें अपना काव्यगुरु माना। वह उनके आजीवन प्रेरणा-स्रोत रहे। उन्हीं दिनों नरेश मेहता से मैत्री। बाद में उनके साथ मिलकर दिल्ली से *कृति* पत्रिका का सम्पादन।

1954-55 : *संकेत* (सं. उपेन्द्रनाथ अश्क) में प्रकाशित कविताओं से ख्याति। युवावस्था में मार्क्सवाद के प्रति तीव्र लगाव। लेकिन 1956 में हंगरी की घटनाओं के कारण मार्क्सवाद से मोहभंग।

1955-56 : मुक्तिबोध की प्रेरणा से बिलासपुर में नवलेखन की पत्रिका *नयी दिशा* का श्रीरामकृष्ण श्रीवास्तव के साथ सम्पादन। घोर तंगी के दिनों में एक-एक पैसे जोड़कर पत्रिका को ज़िन्दा करने की कोशिश, जिसके कुल दो अंक प्रकाशित। साहित्य जगत् में स्वागत। ख़ास तौर से मध्यप्रदेश के हिन्दी नवलेखन में ख़ासी भूमिका।

1956 : नरेश मेहता के आमंत्रण पर दिल्ली आगमन। नरेश मेहता के सम्पादकत्व में प्रकाशित राष्ट्रीय मज़दूर कांग्रेस के साप्ताहिक पत्र *भारतीय श्रमिक* में उपसम्पादक।

1956 से 1959 तक *भारतीय श्रमिक* पत्र में कार्यरत। लेकिन बाद में यह पत्र बन्द हो गया। उसके बाद नरेश मेहता प्रयाग चले गये। पर श्रीकांत ने दिल्ली में जूझना मुनासिब समझा।

1956 से 1963 तक दिल्ली में रहकर स्वतंत्र लेखन, पत्रकारिता, अनुवाद आदि कार्यों की बदौलत जीवन-यापन। संघर्ष के उन्हीं दिनों में बिलासपुर (छत्तीसगढ़ अंचल) की संसद-सदस्या मिनी माता से परिचय और उनसे जीवन-आश्रय। उनके साथ श्रीकांत जी क़रीब ग्यारह वर्षों तक नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली में रहे। जिनसे

श्रीकांत जी को विराट मानवीय प्रेम और मातृत्व की अनुभूति मिली।

1957 : प्रथम काव्य-संग्रह *भटका मेघ* का प्रकाशन। सागर से युवा रचनाकारों द्वारा प्रकाशित *समवेत* पत्रिका का मार्ग-निर्देशन और सक्रिय सहयोग।

1958 : हिन्दी जगत् में नये साहित्य की विशिष्ट पत्रिका *कृति* का नरेश मेहता के साथ सम्पादन। 1962 तक लगातार कुल 40 अंक प्रकाशित। नरेश मेहता के अलग हो जाने के बाद, कांता पित्ती के साथ *कृति* का सम्पादन जारी।

1961 से ही श्रीकांत वर्मा की कविताओं में व्यापक बदलाव। रोमैंटिक भावभूमि को छोड़कर यथार्थ के धरातल पर कविताओं का एक नया उन्मेष। नई कविता के पहले 'नाराज़ कवि' के रूप में चर्चित। तत्कालीन महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ, लेख, टिप्पणियाँ प्रकाशित और बहुचर्चित। कुछ आलोचकों की दृष्टि में श्रीकांत जी नयी कविता के आख़िरी नाराज़ कवि के रूप में अभिहित।

1963 : समाजवादी विचारधारा के महान चिन्तक और डॉ. नेता राममनोहर लोहिया से भेंट। उनसे विचार और कर्म के स्तर पर गहरे तौर पर प्रभावित। बाद में तत्कालीन समाजवादी आन्दोलनों से भी सम्बद्ध हुए। पर 1967 में डॉ. लोहिया के निधन के बाद समाजवादी आन्दोलन में बिखराव के चलते समाजवादियों से मोहभंग।

1964 : लम्बे जीवन-संघर्ष के बाद 1964 में *दिनमान* से सम्बद्ध हुए। विभिन्न पदों—उपसम्पादक, मुख्य उपसम्पादक, विशेष संवाददाता—पर कार्य करते हुए 1977 में तत्कालीन सरकार के इशारे पर *दिनमान* के प्रबन्धतंत्र द्वारा इस्तीफ़ा देने के लिए दबाव। 1977 में *दिनमान* से इस्तीफ़ा। *दिनमान* को साहित्य, राजनीति, आधुनिक जीवन-दृष्टि, कला और संस्कृति से जोड़ने, समृद्ध करने के लिए सतत प्रयत्नशील।

1964 : पहला कहानी-संग्रह *झाड़ी* प्रकाशित।

1966 : दूसरा बहुचर्चित काव्य-संग्रह *मायादर्पण* का प्रकाशन। इसी वर्ष छोटी कविताओं का तीसरा संग्रह *दिनारंभ* प्रकाशित। *मायादर्पण* के प्रकाशन से कविता जगत् में असाधारण ख्याति।

1967 : मिनी माता की अगुआई में वीणा (जयपुर) से विवाह। कालान्तर में मिनी माता का विमान दुर्घटना में दुखद निधन। मिनी माता के शव की शिनाख़्त श्रीकांत जी ने उनके सोने के दाँत और हाथ के गोदने से की थी। मिनी माता के शवदाह के बाद श्रीकांत जी की डायरी की पंक्तियाँ : "आज मिनी माता नहीं मरी हैं, मैं ही मर चुका हूँ। मातृ-स्नेह से वंचित अकिंचन।"

1968 : एकमात्र संतान अभिषेक का जन्म।

1968 : बहुचर्चित उपन्यास *दूसरी* बार का प्रकाशन।

1969 : दूसरे कहानी-संग्रह *संवाद* का प्रकाशन।

1969 : श्रीमती इन्दिरा गाँधी से परिचय और उनसे व्यक्तिगत तौर पर प्रभावित। बकौल श्रीकांत वर्मा, "1969 में श्रीमती गाँधी ने कई ऐसे क़दम उठाये जिन्हें अब भी मैं बहुत जनवादी मानता हूँ।"

1969 : साहित्य के अलावा कांग्रेस की राजनीति में सक्रिय दिलचस्पी। यशपाल कपूर के साथ मिलकर सक्रिय राजनीतिक गतिविधियाँ। *दिनमान* के विशेष संवाददाता के रूप में चुनौतीपूर्ण राजनीतिक पत्रकारिता की शुरुआत।

1970-71-78 : अमेरिका के आयोवा विश्वविद्यालय के 'इण्टरनेशनल राइटिंग प्रोग्रैम' द्वारा 'विजिटिंग पोयट' के रूप में आमंत्रित। भारतीय भाषाओं के प्रतिष्ठित कवियों की कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद और सम्पादन। सम्पूर्ण यूरोप, आस्ट्रेलिया और अमेरिका की यात्राएँ। वहाँ के अनेक विश्वविद्यालयों में काव्यपाठ, भारतीय साहित्य की विशिष्टताओं पर व्याख्यान। भारतीय वाङ्मय की समग्र कविता और संस्कृति का विश्वसंस्कृति के फ़लक पर संवाद।

1970 : *फ़ैसले का दिन* (प्रसिद्ध रूसी कवि आन्द्रे वोज्नेसेंस्की की कविताओं का अनुवाद) पुस्तक का प्रकाशन।

1971 : लोकसभा चुनाव के लिए उनके नाम का प्रस्ताव। पर विदेश में होने के कारण चुनाव नहीं लड़ सके।

1972 : *अदरवाइज़ एण्ड अदर पोयम्स* (अंग्रेज़ी काव्य-संकलन) का प्रकाशन।

1973 : *जलसाघर* कविता-संग्रह का प्रकाशन। आलोचना की चर्चित पुस्तक *जिरह* का भी प्रकाशन। इसी वर्ष अंग्रेज़ी में *ए विंटर इवनिंग* (कहानी-संग्रह) का भी प्रकाशन।

1973 : मध्यप्रदेश शासन द्वारा 'उत्सव-73' के अवसर पर विशिष्ट लेखन के लिए सम्मानित। इसी वर्ष मध्यप्रदेश शासन की ओर से *जलसाघर* काव्य-संकलन के लिए 'तुलसी सम्मान'।

1974 : *जलसाघर* काव्य-संकलन के लिए उत्तरप्रदेश शासन द्वारा सम्मानित।

1974 : मध्यप्रदेश कला परिषद की ओर से प्रकाशित *पूर्वग्रह* के सम्पादक मण्डल में शामिल।

1975 : *बिटर स्वीट डिज़ायर* (*दूसरी बार* उपन्यास का अंग्रेज़ी अनुवाद) प्रकाशित।

1975 : *अपोलो का रथ* (यात्रा-संस्मरण) का प्रकाशन।

1975 : भारतीय लेखक संगठन का गठन। महासचिव नियुक्त। पूरे देश में सांस्कृतिक उत्थान के लिए सांस्कृतिक इकाइयों का गठन। दिल्ली में हिन्दी के लेखकों के साथ इस संगठन को सक्रिय बनाने की पहल।

1975 : आपात्काल में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के सवाल पर कई लेखकों से वैचारिक मुठभेड़। श्रीमती इन्दिरा गाँधी से हिन्दी के वरिष्ठ लेखकों के प्रतिनिधि मण्डल के साथ मिलकर लेखकों पर हो रहे अत्याचार और प्रेस की आज़ादी के अपहरण पर हस्तक्षेप।

1976 : मध्यप्रदेश से राज्यसभा के सदस्य के रूप में संसद में प्रवेश। संसद में अपने बौद्धिक प्रश्नों से आक्रांत करनेवाले एक प्रखर सांसद के रूप में चर्चित। ख़ास तौर से लोगों से की गई श्रीकांत की जिरह और बहसें महत्त्वपूर्ण हैं।

1976-77 : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा प्रकाशित *सोशलिस्ट इण्डिया* के सम्पादक मण्डल के सदस्य।

1980 : कांग्रेस के प्रचार संयोजक नियुक्त। 1980-84 के दौरान आम चुनावों में सुनियोजित प्रचारतंत्र के ज़रिए कांग्रेस पार्टी के लिए विशेष प्रचार अभियान का संचालन। पार्टी की ओर से लोकप्रिय नारे लिखे।

1981 : चुनी हुई कहानियों का संकलन *घर* प्रकाशित।

1981 : साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवाओं के लिए मध्यप्रदेश शासन के प्रथम शिखर सम्मान से अलंकृत।

1981 : प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन *प्रसंग* प्रकाशित।

1981 : भारत भवन (भोपाल) की कार्यकारिणी के सम्मानित सदस्य। भारत भवन की कल्पना और निर्माण में सक्रिय योगदान।

1982 : साहित्य कला परिषद, दिल्ली द्वारा आधुनिक लेखन में योगदान के लिए सम्मानित।

1982 : श्रीकांत वर्मा के जीवन और लेखन में एक तीव्र वैचारिक परिवर्तन। निरी आधुनिकता की बजाय भारतीय परम्परा और संस्कृति का गहरा अनुशीलन। कविता-संग्रह *मगध* की कविताओं के सृजन का दौर।

1982 : *बीसवीं शताब्दी* के अँधेरे में पुस्तक का प्रकाशन।

1983 : गम्भीर हृदयरोग से आक्रांत हुए। जीवन की आशा क्षीण हुई। जुलाई 1983 में ह्यूस्टन, अमेरिका में हृदयरोग का बृहद् ऑपरेशन, बाईपास सर्जरी। अमेरिका से नया जीवन लेकर एक नये संकल्प के साथ साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय।

1983 : *श्रीकांत वर्मा की कहानियाँ : भाग-1, श्रीकांत वर्मा की कहानियाँ : भाग-2* प्रकाशित।

1984 : मध्यप्रदेश के 'नंददुलारे वाजपेयी पुरस्कार' से *बीसवीं शताब्दी के अँधेरे* में पुस्तक के लिए, भारतीय कविता और राष्ट्रीय एकता में योगदान के निमित्त 'कुमारन् आशान' राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित, 'यूनाइटेड नेशन्स इण्डियन कौंसिल ऑफ यूथ एवार्ड' से *प्रसंग* (विविध लेखन) के लिए सम्मानित।

1984 : *प्रेक्षा* साप्ताहिक का सम्पादन। श्रीमती इन्दिरा गाँधी की निर्मम हत्या से बेहद अशांत और दुखी। श्रीमती गाँधी के निधन पर 'जानवर और जानवर' शीर्षक सम्पादकीय काफ़ी विवादास्पद और चर्चित। इसी समय समाचार भारती के निदेशक नियुक्त हुए, साथ ही उर्दू समाचारों के लिए एक स्वतंत्र एजेंसी प्रारम्भ की।

1984 : पाँचवें काव्य-संग्रह *मगध* का प्रकाशन जो कालांतर में हिन्दी कविता का एक नया आयाम बना। जिसने भारतीय कविता की दुनिया के कई द्वार खोले। लगभग सभी भारतीय भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित। वर्ष 1986 में मरणोपरांत इस महत्त्वपूर्ण संग्रह को साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसी वर्ष *श्रीकांत वर्मा की प्रतिनिधि कविताएँ* (सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) प्रकाशित।

1984 : *आज के लोकप्रिय कवि : श्रीकांत वर्मा* (कविताएँ : सं. विनोद भारद्वाज) पुस्तक प्रकाशित।

1984 : नवम्बर में कांग्रेस पार्टी के प्रमुख महासचिव। पार्टी-प्रवक्ता के रूप में अपने उत्तेजक वक्तव्यों के लिए खासे चर्चित। कांग्रेस पार्टी के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञों में से एक। इस दौरान उन्होंने हिन्दी और अंग्रेज़ी में *कांग्रेस वर्णिका* मासिक का नियमित प्रकाशन आरम्भ किया। इसके पूर्व पार्टी के प्रचार संयोजक के रूप में *कांग्रेस समाचार बुलेटिन* का भी सम्पादन।

1984-85 : संसदीय राजभाषा समिति के उपाध्यक्ष। इसी वर्ष 'वाल्मीकि विश्व कविता महोत्सव' के अध्यक्ष चुने गये। इस दौरान सम्पादित कविता पुस्तक *पोयट्री फ़ेस्टिवल ऑफ़ इण्डिया* का प्रकाशन और *एण्ड ऑफ़ इरा* (अंग्रेज़ी)—एक युग का अंत (हिन्दी)—श्रीमती इन्दिरा गाँधी की स्मृति पर केन्द्रित पुस्तक का सम्पादन। *ए पोर्ट्रेट ऑफ़ राजीव गाँधी* (अंग्रेज़ी) पुस्तक का प्रकाशन।

1985 : गृहनगर बिलासपुर की ओर से श्रीकांत वर्मा का सार्वजनिक सम्मान। इस तीन दिवसीय आयोजन में हिन्दी के महत्त्वपूर्ण कवियों लेखकों द्वारा श्रीकांत वर्मा के साहित्य पर विचार-विमर्श।

1985 : राष्ट्रीय एकता में योगदान के लिए 'इन्दिरा प्रियदर्शिनी सम्मान' से सम्मानित।

1985 : कांग्रेस महासचिव पद से इस्तीफ़ा और फिर राजनीति की बजाय साहित्य के क्षेत्र में फिर से सक्रिय होने का संकल्प। कई किताबों की योजनाएँ।

मुक्तिबोध पर किताब लिखने की तैयारी। *छायालोक* नाम से विदेशी कवियों की कविताओं का अनुवाद। *कृति* के पुनःप्रकाशन की योजना।

1986 : *अश्वत्थ* और *ब्यूक 1931* नाम से दो भिन्न विषयों पर उपन्यास-लेखन की शुरुआत, जिनके कुछ ही पृष्ठ लिखे गये। डायरी का निरंतर लेखन। निधन के बाद प्रकाशित अन्तिम काव्य-संग्रह *गरुड़ किसने देखा है* की अधिकांश कविताएँ इसी दौर में लिखी गयीं। इसी वर्ष *मेरी प्रिय कविताएँ: श्रीकांत वर्मा* प्रकाशित। मार्च 1986 में उदर रोग से अस्वस्थ। प्रारंभिक जाँच से भोजन की नली के ऊपरी हिस्से में कैंसर की संभावना।

मार्च 1986 : इलाज़ के लिए अमेरिका के स्लोन केटरिंग मेमोरियल अस्पताल के लिए सपरिवार रवाना।

13 मार्च 1986 को हुआ ऑपरेशन का प्रारम्भिक दौर सफल। लेकिन घाव न भरने पर पुनः ऑपरेशन। अप्रैल के आख़िरी दिनों से गहन चिकित्सा कक्ष में मृत्यु से अहर्निश संघर्ष। अंततः उपचार और दवाओं का कोई लाभ नहीं। उसी दौरान डायरी के आख़िरी पन्ने में उन्होंने लिखा, "मैं जीना चाहता हूँ।"

25 मई 1986 : न्यूयार्क, अमेरिका के स्लोन केटरिंग मेमोरियल अस्पताल में निधन।

1986 : निधन के पश्चात् श्रीकांत वर्मा की स्मृति में युवा लेखन की सृजनशीलता को रेखांकित करने के लिए श्रीमती वीणा वर्मा द्वारा 'श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार' और श्रीकांत वर्मा स्मृति संस्थान की स्थापना।

1987 : भारत भवन (भोपाल) की ओर से 'श्रीकांत वर्मा स्मृति प्रसंग' के मौक़े पर असंकलित रचनाओं का संचयन *सरहद पर* (सं. अशोक वाजपेयी) प्रकाशित। इसी अवसर पर 'शब्द और शताब्दी' नाम से तीन दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन।

श्रीकांत वर्मा का साहित्य

श्रीकांत वर्मा रचनावली (1995)

(सं. अरविन्द त्रिपाठी) रचनात्मक साहित्य 4 खण्डों में, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली। दो खण्ड क्रमशः पत्रकारिता और संसद में दिये गये भाषणों के संचयन (प्रकाशनाधीन)

कविता-संकलन

भटका मेघ (1957, 83)
मायादर्पण (1967)
दिनारंभ (1967)
जलसाघर (1973, 75, 84)
गरुड़ किसने देखा है (1986)

कहानी-संग्रह

झाड़ी (1964, 66)
संवाद (1969)
घर (चुनी हुई कहानियाँ, 1981)
श्रीकांत वर्मा की कहानियाँ : भाग-1 (1984)
श्रीकांत वर्मा की कहानियाँ : भाग-2 (1984)
दूसरे के पैर (1984)
अरथी (1988)
ठंड (1989)
बास (1993)
साथ (1994)

उपन्यास

दूसरी बार (1968)
अश्वत्थ (अपूर्ण, रचनाकाल : 1985)
ब्यूक 1931 (अपूर्ण, रचनाकाल : 1985)

आलोचना

जिरह (1973)

अनुवाद

फ़ैसले का दिन (प्रसिद्ध रूसी कवि आन्द्रे वोज्नेसेंस्की की प्रतिनिधि कविताओं का अनुवाद, 1970)
छायालोक (विश्वप्रसिद्ध कवियों की प्रतिनिधि कविताओं का अनुवाद, अप्रकाशित)

विविध लेखन

बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में (साक्षात्कार एवं वार्तालाप, 1982)
अपोलो का रथ (यात्रा-संस्मरण, 1973)
प्रसंग (प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन, 1981)
आज के लोकप्रिय कवि : श्रीकांत वर्मा (कविताएँ, सं. विनोद भारद्वाज 1984)
श्रीकांत वर्मा की प्रतिनिधि कविताएँ (सं. विश्वनाथप्रसाद तिवारी, 1984)
मेरी प्रिय कविताएँ (1986)
सरहद पर (सं. अशोक वाजपेयी, 1987)

अंग्रेज़ी-लेखन

अदरवाइज़ एण्ड अदर पोयम्स (कविता, 1972)
बिटर स्वीट डिज़ायर (*दूसरी बार* उपन्यास का अंग्रेज़ी अनुवाद, 1975)
ए विंटर इवनिंग (कहानियाँ 1973)
ए पोर्ट्रेट ऑफ़ राजीव गाँधी (1986)

सम्पादन

पोयट्री फ़ेस्टिवल ऑफ़ इण्डिया (1985)
एण्ड ऑफ़ एन इरा (इन मेमोरी ऑफ़ श्रीमती इन्दिरा गाँधी, 1985)
एक युग का अंत (श्रीमती इन्दिरा गाँधी की स्मृति में, 1985)

श्रीकांत वर्मा का सन्दर्भ पत्र

[अरविन्द त्रिपाठी के नाम]

222, नार्थ एवेन्यू
नयी दिल्ली—110001
18.4.79

प्रिय त्रिपाठी जी,

आपने मेरी कविताओं को ग़ौर से पढ़ा, इसके लिए धन्यवाद देना सिर्फ़ औपचारिकता होगी। कविता के पाठक ही कितने हैं। आप स्वयं कृतिकार हैं और कृतिकारों की आपसी सद्भावना ही कविता को न्यूनतम सीमा तक बरक़रार रखे हुए है। अन्यथा तो कोई उम्मीद नहीं। आपने कई सवाल किये हैं, संक्षेप में उनके स्पष्टीकरण से, आशा है, आपको अपने कार्यो में मदद मिलेगी।

मेरा जन्म 18 सितम्बर 1931 को मध्यप्रदेश के बिलासपुर नगर में हुआ। वहीं एस.बी.आर. आर्ट्स कॉलेज में मैंने बी.ए. तक शिक्षा ग्रहण की। 1952 में बी.ए. करने के बाद दो साल बेकार रहा। फिर 1954 से 1956 तक बिलासपुर के म्युनिसिपल हाईस्कूल में अध्यापक रहा। अध्यापकी करते हुए ही 1956 में मैंने एक प्राइवेट छात्र के रूप में नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. किया।

मेरा जन्म एक अपेक्षाकृत सम्पन्न परिवार में हुआ था। मेरे पिता वकील हैं (बूढ़े हो चुके हैं)। ज़मींदारी प्रथा की समाप्ति के साथ आज़ादी के बाद वकीलों को भी कठिन दिन देखने पड़े। इसलिए मुझे युवावस्था में अपनी जीविका के लिए संघर्ष करना पड़ा, जो अब तक समाप्त नहीं हुआ है।

मेरा परिवार राजनीतिक दृष्टि से कांग्रेसी रहा। मेरे पिता स्वाधीनता आन्दोलन में जेल गये और लगातार कष्ट उठाया। लेकिन ईमानदारी और आदर्शवादिता के कारण कामयाब नहीं हुए और आज भी वे ग़रीबी में ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं।

राजनीति में मेरी रुचि तो कॉलेज-स्कूल के दिनों से थी। लेकिन सक्रिय दिलचस्पी 1969 में कांग्रेस विभाजन के समय से शुरू हुई। उसके पहले

डॉ. राममनोहर लोहिया से पहली भेंट 1963 में हुई थी। मैं उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ था और उनका भी मेरे प्रति अनुराग था। 1967 में डॉ. लोहिया की मृत्यु के बाद समाजवादी आन्दोलन बिखरने लगा और अन्य बुद्धिजीवियों की तरह मैं भी समाजवादियों से दूर जा पड़ा। वैसे मैं न समाजवादी पार्टी का विधिवत् सदस्य था न कांग्रेस का। 1969 में श्रीमती गाँधी ने कई ऐसे क़दम उठाये जिन्हें मैं अब भी बहुत जनवादी मानता हूँ। मैं उससे आकर्षित होकर श्रीमती गाँधी के निकट आया। 1976 में मुझे मध्यप्रदेश से राज्यसभा के लिए चुना गया। इसके पहले 1971 में मेरा नाम लोकसभा चुनाव के लिए प्रस्तावित हुआ था। मगर उन दिनों मैं अमेरिका में था।

1956 के सितम्बर महीने में श्री नरेश मेहता के आमन्त्रण पर मैं दिल्ली आया और उनके सम्पादन में प्रकाशित *भारतीय श्रमिक* (राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस का साप्ताहिक) में उपसम्पादक नियुक्त हुआ। श्री नरेश मेहता से मेरी भेंट 1954 में श्री गजानन माधव मुक्तिबोध ने करायी थी, जब नरेश जी नागपुर रेडियो में प्रोड्यूसर होकर आये थे। मुक्तिबोध तो मेरी कविताओं के लिए मुझे प्रोत्साहित करते ही रहते थे, श्री नरेश मेहता ने भी मेरी कविताएँ पसन्द की थीं।

मुक्तिबोध की प्रेरणा से मैंने 1955-56 में बिलासपुर से नवलेखन की त्रैमासिक पत्रिका *नयी दिशा* प्रकाशित किया था। इसके केवल दो ही अंक प्रकाशित हो सके। मगर उसका हिन्दी, विशेषकर, मध्यप्रदेश के साहित्य-संसार पर ख़ासा असर पड़ा था।

1956 से 1959 तक मैं *भारतीय श्रमिक* में उपसम्पादक रहा। फिर पत्र बन्द हो गया। उसके सभी कर्मचारी बेरोज़गार हो गये। नरेश जी प्रयाग चले गये। मैंने दिल्ली में ही जूझना पसन्द किया। 1958 में नरेश जी और मैंने *कृति* (मासिक) का सम्पादन आरम्भ किया था। वह ज़रूर 1962 तक चलती रही।

कई साल फुटकर लेखन के बल पर ज़िन्दा रहने के बाद 1964 में मुझे *दिनमान* में जगह मिली। उपसम्पादक, मुख्य उपसम्पादक, विशेष संवाददाता के पदों पर काम किया। 1977 में सरकार बदलने के बाद मुझे नौकरी से हटा दिया गया।

कविताएँ मैंने सबसे पहले 1948 में लिखीं। पर 1948 से 1952 तक का लेखन मुझे अब बचकाना और नौसिखुआ लगता है। ख्याति मुझे 1956 में *संकेत* (सं. उपेन्द्रनाथ 'अश्क') में प्रकाशित अपनी कविताओं के कारण मिली।

मेरी कविताओं में परिवर्तन का सिलसिला 1961 से आरम्भ हुआ। रोमैंटिक भावभूमि छोड़कर तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न निराशा, संशय, क्रोध इत्यादि।

मेरी पुस्तकों की सूची अलग से संलग्न है। प्रयत्न करने पर आपको अपने ही नगर के पुस्तकालयों या साहित्यकारों के पास मिल जायेंगी।

1970-71 में मुझे अमेरिका के आयोवा विश्वविद्यालय के इण्टरनेशनल राइटिंग प्रोग्रैम ने विजिटिंग पोएट के रूप में आमन्त्रित किया। पिछले वर्ष मैं दोबारा इसी प्रोग्रैम में आयोवा गया। इस बार मैंने भारत की 14 प्रमुख भाषाओं की कई कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद (संकलन)—लगभग सात सौ पृष्ठ की पुस्तक—सम्पादित की है। इसके अलावा मैंने लगभग सम्पूर्ण यूरोप, आस्ट्रेलिया और अमेरिका की यात्राएँ की है और वहाँ के अनेक विश्वविद्यालयों में भारतीय साहित्य की समस्याओं पर व्याख्यान देता रहा हूँ।

मुझ पर टिप्पणियाँ और छींटाकशी ज़्यादा प्रकाशित हुई हैं, आलोचनाएँ कम। मेरा विरोध अधिक होने का कारण शायद मेरे राजनीतिक विचार हैं—कविताएँ नहीं। मान्यताओं को समझने की कोशिश कम की गयी है। मेरे 'पोलिटिकल एसोसियेशन्स' को दृष्टि में रखकर 'अल्ट्रा लेफ्ट' की ओर से मुझ पर लगातार आक्रमण किये गये हैं। मगर मैं इसका बुरा नहीं मानता। आलोचना और आक्रमण का अधिकार प्रत्येक नागरिक को है। यह ज़रूर है कि यदि हम किसी की राजनीतिक मान्यताओं के आधार पर उसके कृतित्व को जाँचने का प्रयत्न करेंगे तो तुलसीदास से लेकर पाउण्ड, एलियट, गारफीड ब्रेन—संसार के अच्छे-से-अच्छे लेखकों-कवियों को रद्द करना पड़ेगा। क्या यह उचित होगा? क्या मनुष्यता अपने कृतिकारों को इस तरह बरख़ास्त होने देगी?

मुझ पर गम्भीर आलोचनाएँ अशोक वाजपेयी, नामवर सिंह, डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव, डॉ. विश्वनाथप्रसाद तिवारी, कमलेश, मलयज, विष्णु खरे, प्रयाग शुक्ल, स्व. ओमप्रकाश दीपक ने लिखी हैं। इनमें सबसे अधिक संवेदना के साथ डॉ. विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने लिखा है और मैं उसे ही अपनी सर्वोत्तम आलोचना मानता हूँ। ये सब *आलोचना, पूर्वग्रह, आरम्भ, धर्मयुग* इत्यादि में प्रकाशित हुई हैं।

अपनी कविताओं और लेखन के विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता—किसी भी लेखक का स्वयं अपनी रचना पर टिप्पणी करना नैतिक नहीं। इतना ज़रूर है कि मैं अब भी स्वयं से संघर्ष कर रहा हूँ। लेखन के साथ जूझ रहा हूँ। पता नहीं, इस संघर्ष से उबर पाता हूँ या डूब जाता हूँ।

मुझे आशा है मैंने जो कुछ पत्र में लिखा है वह उपयोगी साबित होगा। यदि फिर भी कोई बात रह गयी हो, तो लिखें। मैं स्पष्टीकरण देने का यत्न करूँगा।

शुभकामनाओं सहित,

आपका

श्रीकांत वर्मा

□□

सहायक पुस्तकें

कविता के नये प्रतिमान	:	नामवर सिंह, राजकमल, नयी दिल्ली
फ़िलहाल	:	अशोक वाजपेयी, राजकमल, नयी दिल्ली
समकालीन काव्य यात्रा	:	नंद किशोर नवल, किताबघर, नयी दिल्ली
कविता से साक्षात्कार	:	मलयज, संभावना प्रकाशन, हापुड़, उ.प्र.
श्रीकांत वर्मा का रचना संसार	:	(सं.) राजेन्द्र मिश्र, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली
आधुनिकता और आधुनिक साहित्य	:	इन्द्रनाथ मदान, राजकमल, नयी दिल्ली

पत्र-पत्रिकाएँ

पूर्वग्रह (श्रीकांत वर्मा पर विशेष) जनवरी-जून 1998	सं. अशोक वाजपेयी भारत भवन, भोपाल (म.प्र.)
आलोचना अंक 78, जुलाई-सितम्बर 1986	(सं.) नामवर सिंह, राजकमल, नयी दिल्ली
दस्तावेज़ (श्रीकांत वर्मा पर केन्द्रित) अंक 31, 32, अप्रैल जुलाई 1986	सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी बेतिया हाता, गोरखपुर (उ.प्र.)
पहल (स्मारिका) (श्रीकांत वर्मा का स्मृति प्रसंग) 18 अप्रैल 1993	संपादन : प्रदीप पंडित अरुण पाण्डेय आलोक वर्मा, रायपुर (म.प्र.)
आवेग (श्रीकांत वर्मा पर केन्द्रित) अंक 53/54, मई-अक्तूबर 1988	स. प्रसन्न ओझा सत्यनिकेतन, नज़रबाग (बैंक कॉलोनी), रतलाम (म.प्र.)
नवभारत टाइम्स (दैनिक पत्र) श्रीकांत वर्मा (के न) होने का अर्थ (संपादकीय) राजेन्द्र माथुर	स. राजेन्द्र माथुर टाइम्स बिल्डिंग बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग, नयी दिल्ली